जैन योग की वर्णमाला

आचार्य महाप्रज्ञ

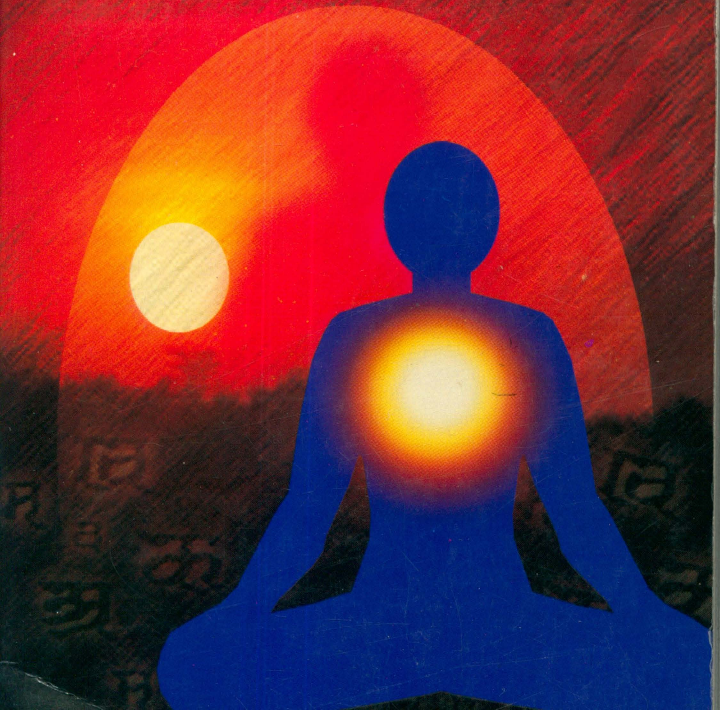

जैन योग की वर्णमाला

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

जैन योग की वर्णमाला

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादन
साध्वी विश्रुतविभा

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं ३४१३०६ (राज.)

सौजन्य :
स्व. बच्छराज रतनीदेवी नाहटा की पुण्य स्मृति में उनके
सुपुत्र–बिमलकुमार, सुपौत्र–संदीप, प्रपौत्र–प्रियंक नाहटा
(सरदारशहर–गुवाहाटी)
द्वारा–बी. एन. ग्रुप

ISBN 81-7195-124-4

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : २००७

मूल्य : साठ रुपये मात्र

टाइप सेटिंग : **सर्वोत्तम प्रिंट एण्ड आर्ट**

आवरण : अडिग

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर ३३४००३

Rs. 60.00/JAIN YOG KI VARNMALA/by Acharya Mahaprajna

प्रस्तुति

'अध्यात्म विद्या विद्यानाम्' गीता का यह सूक्त इस ओर संकेत करता है कि भारतीय विद्याओं में अध्यात्म विद्या का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अध्यात्म-साधना की अनेक शाखाओं का विस्तार हुआ है। उनमें एक शाखा है योग विद्या। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अध्यात्म विद्या जितनी प्राचीन है उतनी ही प्राचीन है योग विद्या। अर्हत् आदिनाथ अध्यात्म विद्या के प्रवर्तक हैं। श्रीमद्भागवत् में ऋषभ के पुत्रों को अध्यात्म विद्या विशारद बतलाया गया है। योग विद्या का मूल आधार आत्म विद्या है। आत्मा का साक्षात्कार साध्य है और योग विद्या उसका साधन है।

वर्तमान में पातञ्जल योग दर्शन योग विद्या का सर्वोपरि व्यवस्थित ग्रंथ है। जैन आगमों में योग के प्रकीर्ण तत्त्व मिलते हैं, किन्तु सर्वाङ्ग परिपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। 'ध्यानविभक्ति' नामक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है, पर आज वह उपलब्ध नहीं है। 'ध्यानशतक' और 'कायोत्सर्ग शतक', ये दोनों ग्रंथ योग साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य शुभचंद्र का 'ज्ञानार्णव', आचार्य हेमचन्द्र का योगशास्त्र और आचार्य रामसेन का 'तत्त्वानुशासन'

आदि ग्रंथों को हठयोग की कोटि में रखा जा सकता है। आचार्य हरिभद्र के अनेक ग्रंथ योग विद्या के क्षेत्र में नई दृष्टि देने वाले हैं। आचार्य तुलसी के 'मनोनुशासनम्' को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है।

उक्त विवरण के आधार पर हम जान सकते हैं कि योग विद्या भारत की बहुत प्राचीन विद्या है।

योग का उद्देश्य रहा आध्यात्मिक चेतना का विकास और आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण। लक्ष्य के अनुरूप परिभाषाएं बनीं–

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पातञ्जल योग दर्शन १.२

२. समत्वं योग उच्यते। गीता

३. मोक्षोपायो योगः ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः।

अभिधान चिंतामणि १.७७

४. मनो-वाक्-काय-आनापांन-इन्द्रिय-आहाराणं निरोधो योगः।

मनोनुशासनम् १.११

उत्तरकाल में योग की अनेक शाखाएं विकसित हुई हैं। उनमें चार प्रमुख हैं–

१. हठयोग २. मंत्रयोग

३. लययोग ४. राजयोग

इनमें उद्देश्य का विकास परिलक्षित होता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से प्राणायाम और आसन प्रमुख बन गए तथा यम, नियम गौण हो गए। 'हठयोग प्रदीपिका' में प्राणायाम आदि के द्वारा सब रोगों के

क्षय होने का उल्लेख मिलता है–

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः।।

हठयोग प्रदीपिका गा. १६

हठयोग के अभ्यास से आठ अवस्थाओं का निर्माण होता है–

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्।।

हठयोग प्रदीपिका २.७६

१. शरीर की कृशता
२. प्रसन्नता
३. स्पष्ट वाक्
४. निर्मल चक्षु
५. आरोग्य
६. बिंदु–जय
७. अग्निदीपन
८. नाड़ी–विशुद्धि

हठयोग में आसन और प्राणायाम का विस्तृत विवेचन है।

जैन योग में राजयोग, हठयोग आदि सबका समावेश है। योग से व्रत की चेतना जाग्रत होती है अथवा व्रत की चेतना जाग्रत होने पर ध्यान शक्ति का विकास होता है। प्रस्तुत ग्रंथ 'जैन योग की वर्णमाला' में व्रत, स्वाध्याय, ध्यान, अनुप्रेक्षा आदि समग्र तत्त्वों का समावेश है। इसमें समग्रता का स्पर्श या निदर्शन किया गया है। इस निदर्शन के आधार पर संबद्ध ग्रंथों का स्वतंत्र अध्ययन किया जा सकता है। उससे योग–साधना के अनेक नए आयाम विकसित हो सकते हैं।

लघु पुस्तकों की शृंखला में यह नवमीं पुस्तक है। इसकी पृष्ठभूमि में साध्वी विश्रुतविभा का आग्रह जीवंत रहा है। इस पुस्तक के संपादन में उसने अतिरिक्त श्रम किया है। उत्तर का श्रम मूल को अनिर्वचनीय आकार दे सकता है। प्रस्तुत शृंखला के नियोजन में मुनि धनंजयकुमार का निष्ठापूर्ण योग रहा है। समणी विनीतप्रज्ञा आदि समणियों ने प्रूफ निरीक्षण का कार्य तन्मयता से किया है।

२२ जनवरी, २००७ —**आचार्य महाप्रज्ञ**
गंगाशहर (बीकानेर)

अनुक्रम

• योग

योग (१) १६
योग (२) २०
योग (३) २१
योग (४) २२
योग के हेतु (१) २३
योग के हेतु (२) २४
योग-माहात्म्य (१) २५
योग-माहात्म्य (२) २६
योग-माहात्म्य (३) २७
योग-माहात्म्य (४) २८
योग का अधिकारी २६
योगी ३०
योगी का नेत्र ३१
योग और मंत्र (१) ३२
योग और मंत्र (२) ३३
योग और मंत्र (३) ३४
योग और मंत्र (४) ३५
योग और मंत्र (५) ३६
योग और मंत्र (६) ३७
योग और मंत्र (७) ३८
योग और मंत्र (८) ३६
योग और मंत्र (६) ४०
योग और मंत्र (१०) ४१
अमनस्क योग (१) ४२
अमनस्क योग (२) ४३
अमनस्क योग (३) ४४
अमनस्क योग (४) ४५
अमनस्क योग (५) ४६
अमनस्क योग (६) ४७
अयोग अवस्था ४८

• अध्यात्म योग

अध्यात्म योग (१) ५१
अध्यात्म योग (२) ५२
अध्यात्म योग (३) ५३
अध्यात्म योग (४) ५४
अध्यात्म योग (५) ५५
अध्यात्म योग (६) ५६
अध्यात्म योग (७) ५७
अध्यात्म योग (८) ५८
अध्यात्म योग (६) ५६
अध्यात्म योग (१०) ६०
अध्यात्म योग (११) ६१
अध्यात्म योग (१२) ६२
अध्यात्म योग (१३) ६३
अध्यात्म योग (१४) ६४
अध्यात्म के आधार-स्तंभ ६५
आत्मा ६६

अखण्ड आत्मा	६७
आत्मज्ञान (१)	६८
आत्मज्ञान (२)	६९
आत्मशक्ति	७०
आत्मा का अनुचिंतन	७१
आत्मा का स्वरूप	७२
अध्यात्म	७३
अध्यात्म का आलोक	७४
कर्म के दो बीज : राग-द्वेष	७५
राग-द्वेष की उपशांति के उपाय	७६
दुःख का मूल कारण	७७
काम है दुःख का मूल	७८
धर्म का पहला द्वार	७९
धर्म का दूसरा द्वार	८०
धर्म का तीसरा द्वार	८१
धर्म का चौथा द्वार	८२
द्रष्टा	८३
ज्ञायक भाव (१)	८४
ज्ञायक भाव (२)	८५
ज्ञाता-द्रष्टा भाव (१)	८६
ज्ञाता-द्रष्टा भाव (२)	८७
रंग सहित तीर्थंकर का ध्यान	८८
मानसिक दुःख की चिकित्सा	८९
समत्व की साधना (१)	९०
समत्व की साधना (२)	९१
मन की एकाग्रता और शरीर कीं स्थिरता	९२
गुण-संक्रमण	९३
रूपान्तरण	९४
चेतना का रूपान्तरण	९५
प्रसन्नता का शिखर	९६
विरक्ति का चिंतन	९७
भाव (१)	९८
भाव (२)	९९
भाव (३)	१००
ज्ञानयोग	१०१

● संवरयोग

आश्रव और संवर (१)	१०५
आश्रव और संवर (२)	१०६
आश्रव और संवर (३)	१०७
आश्रव और संवर (४)	१०८
मिथ्यात्व	१०९
अविरति	११०
प्रमाद	१११
कषाय	११२
संवरयोग : तपोयोग	११३
संवरयोग : ध्यान-योग	११४
संवरयोग	११५
कर्मयोग और ज्ञानयोग	११६
सम्यक्त्व	११७
सम्यक् दर्शन	११८
सम्यक्त्व और चारित्र	११९
अहिंसा : प्राणातिपात विरमण (१)	१२०
अहिंसा : प्राणातिपात विरमण (२)	१२१

अहिंसा अणुव्रत	१२२
सत्य अणुव्रत	१२३
अचौर्य अणुव्रत	१२४
ब्रह्मचर्य अणुव्रत	१२५
अपरिग्रह अणुव्रत (१)	१२६
अपरिग्रह अणुव्रत (२)	१२७
दिग् परिमाण व्रत	१२८
भोगोपभोग परिमाण व्रत	१२९
अनर्थदंड विरमणव्रत	१३०
सामायिक व्रत	१३१
देशावकाशिक व्रत	१३२
पौषधोपवास व्रत	१३३
यथासंविभाग व्रत	१३४
अहिंसा महाव्रत	१३५
सत्य महाव्रत	१३६
अचौर्य महाव्रत	१३७
ब्रह्मचर्य महाव्रत	१३८
अपरिग्रह महाव्रत	१३९

● तपयोग

तपोयोग : आहारशुद्धि	१४३
तपोयोग : कायक्लेश	१४४
आसन (१)	१४५
आसन (२)	१४६
आसन (३)	१४७
ऊर्ध्वस्थान	१४८
निषीदन-स्थान (१)	१४९
निषीदन-स्थान (२)	१५०
शयन-स्थान	१५१
प्राणायाम (१)	१५२
प्राणायाम (२)	१५३
प्राणायाम (३)	१५४
प्राणायाम (४)	१५५
प्राणायाम (५)	१५६
रेचक	१५७
प्राणविजय का फल	१५८
प्राणायाम : मुक्ति की साधना में अनुपयोगी	१५९
मन और पवन	१६०
तपोयोग : इन्द्रिय संयम	१६१
प्रतिसंलीनता (१)	१६२
प्रतिसंलीनता (२)	१६३
प्रतिसंलीनता (३)	१६४
इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता	१६५
कषाय-प्रतिसंलीनता (१)	१६६
कषाय-प्रतिसंलीनता (२)	१६७
कषाय-प्रतिसंलीनता (३)	१६८
कषाय-प्रतिसंलीनता (४)	१६९
योग-प्रतिसंलीनता (१)	१७०
योग-प्रतिसंलीनता (२)	१७१
कषाय-विजय (१)	१७२
कषाय-विजय (२)	१७३
कषाय-विजय (३)	१७४
कषाय-विजय (४)	१७५
वीतराग (१)	१७६

वीतराग (२)	१७७
वीतराग चेतना	१७८
क्रोधविजय और आभामंडल	१७९
तपोयोग : स्वाध्याय	१८०
स्वाध्याय का फल	१८१
अनित्य अनुप्रेक्षा	१८२
अशरण अनुप्रेक्षा	१८३
संसार अनुप्रेक्षा	१८४
एकत्व अनुप्रेक्षा	१८५
अन्यत्व अनुप्रेक्षा	१८६
अशौच अनुप्रेक्षा	१८७
आश्रव-संवर अनुप्रेक्षा	१८८
निर्जरा अनुप्रेक्षा	१८९
धर्म अनुप्रेक्षा	१९०
लोक-संस्थान अनुप्रेक्षा	१९१
बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा	१९२
मैत्री भावना	१९३
प्रमोद भावना	१९४
कारुण्य भावना	१९५
माध्यस्थ्य भावना	१९६
अनुप्रेक्षा का फल	१९७
प्रतिपक्ष भावना	१९८
औदासीन्य (१)	१९९
औदासीन्य (२)	२००
तपोयोग : ध्यान	२०१
ध्यान की पृष्ठभूमि	२०२
ध्यान के अधिकारी	२०३
ध्यान	२०४
ध्येय और ध्यान	२०५
धारणा	२०६
ध्यान के सहायक तत्त्व	२०७
ध्यान की सामग्री (१)	२०८
ध्यान की सामग्री (२)	२०९
ध्यान विधि	२१०
ध्यान : कालमान (१)	२११
ध्यान : कालमान (२)	२१२
ध्यान : कालमान (३)	२१३
ध्यान की कालावधि (१)	२१४
ध्यान की कालावधि (२)	२१५
ध्यान के हेतु	२१६
ध्यान और आसन (१)	२१७
ध्यान और आसन (२)	२१८
ध्यानस्थल (१)	२१९
ध्यानस्थल (२)	२२०
ध्यान की दिशा	२२१
ध्यान की मुद्रा	२२२
ध्यान की कोटियां	२२३
ध्यान की योग्यता (१)	२२४
ध्यान की योग्यता (२)	२२५
ध्यान की योग्यता : ज्ञान भावना	२२६
ध्यान की योग्यता : दर्शन भावना	२२७
ध्यान की योग्यता : चारित्र भावना	२२८
ध्यान की योग्यता : वैराग्य भावना	२२९
ध्यान का क्रम	२३०

ध्यान की कसौटियां २३१
ध्यान का प्रभाव २३२
ध्यानसिद्धि २३३
ध्यान का फल २३४
तादात्म्य ध्यान (१) २३५
तादात्म्य ध्यान (२) २३६
तन्मय ध्यान (१) २३७
तन्मय ध्यान (२) २३८
तन्मय ध्यान (३) २३९
तन्मय ध्यान का प्रभाव २४०
तन्मय ध्यान का फल २४१
तन्मय ध्यान और मंत्र २४२
तन्मय ध्यान की सिद्धि २४३
मातृका ध्यान (१) २४४
मातृका ध्यान (२) २४५
मातृका ध्यान (३) २४६
मातृका ध्यान : फलश्रुति २४७
'ह' का ध्यान २४८
प्रणव ध्यान २४९
समाधिप्रत्यय २५०
स्वसंवित्ति का प्रत्यय २५१
स्वसंवेदन (१) २५२
स्वसंवेदन (२) २५३
स्वसंवेदन (३) २५४
स्वसंवेदन (४) २५५
स्वसंवेदन (५) २५६
ध्यान के चार प्रकार (१) २५७
ध्यान के चार प्रकार (२) २५८
आर्तध्यान (१) २५९
आर्तध्यान (२) २६०
आर्तध्यान (३) २६१
आर्तध्यान (४) २६२
आर्तध्यान (५) २६३
आर्तध्यान (६) २६४
आर्तध्यान (७) २६५
आर्तध्यान के लक्षण २६६
आर्तध्यान का अधिकारी २६७
क्या मुनि के आर्तध्यान होता है? २६८
रौद्रध्यान के लक्षण २६९
रौद्रध्यान (१) २७०
रौद्रध्यान (२) २७१
रौद्रध्यान (३) २७२
रौद्रध्यान (४) २७३
रौद्रध्यान (५) २७४
धर्म्यध्यान के लक्षण २७५
धर्म्यध्यान के प्रकार २७६
धर्म्यध्यान : आज्ञा विचय (१) २७७
धर्म्यध्यान : आज्ञा विचय (२) २७८
धर्म्यध्यान : आज्ञा विचय (३) २७९
धर्म्यध्यान : अपाय विचय (१) २८०
धर्म्यध्यान : अपाय विचय (२) २८१
धर्म्यध्यान : अपाय विचय (३) २८२
धर्म्यध्यान : विपाक विचय (१) २८३
धर्म्यध्यान : विपाक विचय (२) २८४

धर्म्यध्यान : विपाक् विचय (३)	२८५
धर्म्यध्यान : संस्थान विचय	२८६
धर्म्यध्यान : आलम्बन	२८७
धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षा	२८८
धर्म्यध्यान का फल	२८९
शुक्लध्यान	२९०
शुक्लध्यान के लक्षण	२९१
शुक्लध्यान के चार प्रकार (१)	२९२
शुक्लध्यान के चार प्रकार (२)	२९३
शुक्लध्यान के चार प्रकार (३)	२९४
शुक्लध्यान के आलम्बन	२९५
शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षा	२९६
तैजसलब्धि (कुंडलिनी योग)	२९७
कायोत्सर्ग का उद्देश्य	२९८
कायोत्सर्ग-विधि	२९९
कायोत्सर्ग (१)	३००
कायोत्सर्ग (२)	३०१
कायोत्सर्ग (३)	३०२
कायोत्सर्ग (४)	३०३
कायोत्सर्ग (५)	३०४
कायोत्सर्ग (६)	३०५
कायोत्सर्ग (७)	३०६
कायोत्सर्ग और प्रायश्चित्त	३०७
कायोत्सर्ग का फल	३०८
तपोयोग का फल	३०९
इन्द्रिय	३१०
मन	३११
चित्त	३१२
बुद्धि	३१३
भाव	३१४
इन्द्रिय-विजय का रहस्य	३१५
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१)	३१६
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (२)	३१७
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (३)	३१८
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (४)	३१९
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (५)	३२०
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (६)	३२१
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (७)	३२२
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (८)	३२३
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (९)	३२४
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१०)	३२५
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (११)	३२६
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१२)	३२७

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१३)	३२८
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१४)	३२९
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१५)	३३०
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१६)	३३१
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१७)	३३२
इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१८)	३३३
इन्द्रिय-विजय का फल (१)	३३४
इन्द्रिय-विजय का फल (२)	३३५
इन्द्रिय-विजय का फल (३)	३३६
इन्द्रिय-विजय का फल (४)	३३७
इन्द्रिय-विजय का फल (५)	३३८
संकल्प-विकल्प का नाश	३३९
मन	३४०
मन का उत्पाद	३४१
एक समय में एक मन	३४२
मन चंचल है	३४३
पौद्गलिक मन	३४४
ज्ञानात्मक मन	३४५
मन की एकाग्रता	३४६
मन का एक आलम्बन पर सन्निवेश	३४७
मन की अवस्थाएं	३४८
निर्विचार दिशा	३४९
मनोनिरोध (१)	३५०
मनोनिरोध (२)	३५१
मनोविजय का रहस्य	३५२
मनोविजय का उपाय	३५३
उन्मनी भाव	३५४
चित्त की अवस्थाएं	३५५
लय	३५६
प्रेक्षा	३५७
प्रेक्षाध्यान का ध्येय	३५८
प्रेक्षाध्यान और परिवर्तन	३५९
प्रेक्षाध्यान : भावों का उद्‌गम स्रोत	३६०
अर्हम्	३६१
आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें	३६२
कायोत्सर्ग	३६३
अंतर्यात्रा	३६४
दीर्घश्वास प्रेक्षा	३६५
समवृत्ति श्वासप्रेक्षा	३६६
शरीरप्रेक्षा (१)	३६७
शरीरप्रेक्षा (२)	३६८
शरीरप्रेक्षा (३)	३६९
शरीरप्रेक्षा (४)	३७०
शरीरप्रेक्षा (५)	३७१
शरीरप्रेक्षा (६)	३७२
वर्तमान क्षण की प्रेक्षा (१)	३७३

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा (२) ३७४
चैतन्य केन्द्र (१) ३७५
चैतन्य केन्द्र (२) ३७६
चैतन्य केन्द्र (३) ३७७
चैतन्य केन्द्र : धारणा के स्थान ३७८
चैतन्य केन्द्र और
अंतःस्रावी ग्रंथि तंत्र ३७९
परमदर्शी ३८०
निष्कर्मदर्शी ३८१
विचार प्रेक्षा ३८२
अनिमेष प्रेक्षा ३८३
प्राण संचार ३८४
प्राण–केन्द्र प्रेक्षा ३८५
महावीर के ध्यानासन ३८६
ध्यान के तीन प्रयोग ३८७
महावीर के ध्यान के प्रयोग ३८८
ध्येय का परिवर्तन ३८९
भावना का अभ्यास ३९०
एकरात्रिकी प्रतिमा ३९१
सर्वतोभद्र प्रतिमा ३९२

योग

योग (१)

जैन साहित्य में 'योग' शब्द का व्यवहार अनेक रूपों में हुआ है—अध्यात्मयोग, ज्ञानयोग, संवरयोग, तपोयोग, ध्यानयोग आदि।

धर्म का सकल व्यापार, जो आत्मा को मोक्ष के साथ योजित करता है, वह योग है। धर्म के व्यापार में प्रणिधान-विशुद्धि होती है। इसलिए वह योग बनता है। स्थान, कायोत्सर्ग पर्यंकासन, पद्मासन आदि इसके विशेष प्रकार हैं।

मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइ गओ विसेसेणं।।

योगविंशिका प्रकरण गा. १

१ जनवरी

२००६

योग (२)

योग आत्मा को मोक्ष के साथ नियोजित करता है इसलिए वस्तुतः सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र—इन तीनों के एक साथ अवस्थान का नाम है योग।

१. सम्यक् ज्ञान—वस्तु का यथार्थ बोध।

२. सम्यक् दर्शन—सम्यक् ज्ञान द्वारा ज्ञात यथार्थ वस्तु में रुचि या आकर्षण।

३. सम्यक् चारित्र—समता की साधना के लिए शास्त्रोक्त विधि-निषेध का अनुसरण।

निच्छयओ इह जोगो सण्णाणाईण तिण्ह संबंधो।
मोक्खेण जोयणाओ णिद्दिहो जोगिनाहेहिं।।

सच्चाणं वत्थुगओ बोहो सद्दंसणं तु तत्थ रुई।
सच्चरणमणुट्ठाणं विहि-पडिसेहाणुगं तत्थ।।

योगशतक २.३

२ जनवरी

२००६

योग (३)

प्रवृत्ति के तीन स्रोत हैं—१. मन, २. वचन और ३. शरीर। जीवन के लिए आवश्यक है श्वासोच्छ्वास और आहार। चेतना का सामान्य स्तर है इन्द्रियां। योग का अर्थ है इनका निरोध करना।

संवर, गुप्ति, निरोध और निवृत्ति—ये योग के पर्यायवाची शब्द हैं।

मनो-वाक्-काय-आनापान-इन्द्रिय-आहाराणां निरोधो योगः।
संवरो गुप्तिर्निरोधो निवृत्ति इति पर्यायाः।

मनोनुशासनम् १.११,१२

३ जनवरी
२००६

योग (४)

योग के दो अंग हैं–

१. शोधन

२. निरोध

पहली भूमिका है शोधन। जैसे–जैसे शोधन होता है वैसे–वैसे निरोध की शक्ति बढ़ती जाती है। आगम की भाषा में शोधन का तात्पर्य है निर्जरा और निरोध का तात्पर्य है संवर।

शोधन का हेतु है तप, सत् प्रवृत्ति अथवा शुभ योग। जो साधक अशुभ प्रवृत्ति का अल्पीकरण कर शुभ प्रवृत्ति का दीर्घीकरण करता है वह सहज ही निवृत्ति अथवा निरोध की भूमिका में चला जाता है।

शोधनं च।

मनोनुशासनम् १.१३

४ जनवरी

२००६

योग के हेतु (१)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें प्रमुख है मोक्ष। योग मोक्ष की प्राप्ति का हेतु है। उसके तीन आयाम हैं—

१. ज्ञान

२. श्रद्धा

३. चारित्र

चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः॥

योगशास्त्र १.१५

५ जनवरी
२००६

योग के हेतु (२)

आचार्य सोमप्रभ ने योग के पांच हेतु बतलाए हैं–

१. वैराग्य–पदार्थ के प्रति होनेवाला अनाकर्षण।

२. ज्ञान संपदा

३. असंग–अनासक्ति अथवा निर्लेपता

४. स्थिरचित्तता–चित्त की स्थिरता

५. ऊर्मि और स्मय को सहन करने की शक्ति।

ऊर्मि शब्द के द्वारा शारीरिक और मानसिक छह अवस्थाओं का ग्रहण किया जाता है–शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा।

वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसंगः स्थिरचित्तता।
ऊर्मि-स्मय-सहत्वं च पंच योगस्य हेतवः।।

यशस्तिलक ८ आश्वासकल्प ४०

शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मयः।
प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः।।

श्रीमद्भागवत १०.७०.१७

६ जनवरी
२००६

योग-माहात्म्य (१)

योग एक कुठार है—सर्व विपदारूपी वल्लियों को काटने के लिए तीखी धारवाला कुठार है।

योग एक वशीकरण है। जड़ी-बूटी, मंत्र और तंत्र से रहित वशीकरण (कार्मण) है।

योग का इष्ट विषय है निर्वृति (निर्वाण)।

योग की साधना द्वारा चिरकाल से अर्जित पाप क्षय हो जाते हैं, जैसे—इकट्ठा किए हुए ईंधन को अग्नि कुछ क्षणों में जला देती है।

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशुः शितः।
अमूलमन्त्रतन्त्रं च कार्म्मणं निर्वृतिप्रियः॥

क्षिणोति योगः पापानि, चिरकालार्जितान्यपि।
प्रचितानि यथैधांसि क्षणादेवाशुशुक्षणिः॥

योगशास्त्र १.५,७

७ जनवरी
२००६

योग-माहात्म्य (२)

योग के अभ्यास से अनेक योगज विभूतियां उपलब्ध होती हैं। योगी का कफ, श्लेष्म आदि औषधिमय बन जाते हैं।

योग के अभ्यास से संभिन्नस्रोतोलब्धि का विकास होता है। उसके द्वारा योगी एक इन्द्रिय से सभी इन्द्रियों के विषय जान सकता है।

कफविप्रुण्मलामर्श - सर्वौषधि - महर्द्धयः।
संभिन्नस्रोतोलब्धिश्च, यौगं ताण्डवडम्बरम्॥

योगशास्त्र १.८

८ जनवरी
२००६

योग–माहात्म्य (३)

कितना है योग का माहात्म्य! बताया नहीं जा सकता। वर्णन की अशक्यता को ध्यान में रखकर एक उदाहरण प्रस्तुत किया। सम्राट भरत राज्य का संचालन करते रहे, गृहवास नहीं छोड़ा, मुनि नहीं बने। शीश–महल में बैठे हुए अपने प्रतिबिम्ब की प्रेक्षा कर रहे थे। प्रेक्षा करते–करते इतने लीन हो गए कि केवली बन गए। यह है योग का माहात्म्य।

अहो! योगस्य माहात्म्यं, प्राज्यं साम्राज्यमुद्वहन्।
अवाप केवलज्ञानं, भरतो भरताधिप।।

योगशास्त्र १.१०

६ जनवरी
२००६

योग-माहात्म्य (४)

योगवेत्ता मनीषियों में योग के प्रति जो आकर्षण है वह अनिर्वचनीय है। कबीर ने लिखा—

ढाई अक्खर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।

आचार्य हेमचंद्र कबीर से आगे चल रहे हैं। उनका वक्तव्य है—जिस मनुष्य का कान 'योग'—इन दो अक्षरों की शलाका से नहीं बींधा गया हो, उस मनुष्य का जन्म पशु की तरह निरर्थक है।

तस्याजननिरेवाऽस्तु, नृपशोर्मोघजन्मनः।
अविद्धकर्णो यो 'योग' इत्यक्षर-शलाकया॥

योगशास्त्र १.१४

१० जनवरी
२००६

योग का अधिकारी

अपुनर्बन्धक, सम्यक्‌दृष्टियुक्त और सम्यक् चारित्री योग के अधिकारी होते हैं। योग का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त नहीं होता। उसका आधार है कर्मप्रकृति की निर्वत्ति–क्षयोपशम। वह अनेक प्रकार का होता है। इसीलिए योग का अधिकारी भी अनेक प्रकार का हो जाता है।

जिसका भवराग (भौतिक जीवन और भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण) अधिक होता है, वह योग का अधिकारी नहीं होता।

अहिगारी पुण एत्थं विण्णेओ अपुणबंधगाइ त्ति।
तह तह णियत्तपगईअहिगारो णेगभेओ त्ति।।

अणियत्ते पुण तीए एगंतेणेव हंदि अहिगारे।
तप्परतंतो भवरागओ दढं अणहिगारि त्ति।।

योगशतक ९,१०

११ जनवरी
२००६

योगी

जो एकांत, अति पवित्र और रम्य स्थल में सुखासन की मुद्रा में आसीन है, जो कायोत्सर्ग की मुद्रा में है, पैर से लेकर शिखा तक शरीर के सारे अवयव शिथिल हैं, यह योगी का लक्षण है।

योग साधना के लिए स्थान पर ध्यान देना आवश्यक है। अपवित्र स्थल साधना में बाधा पैदा करता है, इसलिए आवश्यक है मन को प्रसन्न करने वाला स्वच्छ, रमणीय और प्रदूषण मुक्त स्थान। साधना का मूल आधार है कायोत्सर्ग। जो साधक शरीर के अवयवों को शिथिल करना नहीं जानता, वह साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता।

एकान्तेऽतिपवित्रे रम्ये देशे सदा सुखासीनः।
आचरणाग्रशिखाग्रतः शिथिलीभूताखिलावयवः॥

योगशास्त्र १२.२२

१२ जनवरी
२००६

योगी का नेत्र

योगसिद्ध पुरुष के नेत्रों में एक अलौकिक समता का प्रवाह होता है।

जिसने योग की साधना नहीं की वह अप्रिय करने वाले के प्रति द्विष्ट और प्रिय करने वाले के प्रति रक्त हो जाता है।

योगी अप्रिय व्यवहार करने वाले के प्रति भी अकल्पित व्यवहार करता है।

अपराध करने वाले व्यक्ति के सामने आने पर कृपा के कारण कनीनिकाओं की गति श्लथ हो जाती है और आंखें नम।

कृतापराधेऽपि जने, कृपामन्थरतारयोः।
ईषद्वाष्पाद्रयोर्भद्रं, श्रीवीरजिननेत्रयोः ।।

योगशास्त्र १.३

१३ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (१)

मंत्रशास्त्रीय दृष्टि से 'अर्हम्' एक शक्तिशाली मंत्र है। उसकी आदि में है अकार, अन्त में है हकार और मध्य में है बिन्दु सहित रेफ।

'अकार' वर्णमाला का प्रथम अक्षर है और वह शक्ति बीज है। 'रकार' मूर्धन्य है, वह अग्नि तत्त्व का बीज है और 'हकार' आकाश तत्त्व का बीज है।

सब वर्णों का समुच्चय करने पर 'अर्हम्' शक्तिशाली मंत्र बन जाता है।

अकारादि-हकारान्तं, रेफमध्यं सबिन्दुकम्।
तदेव परमं तत्त्वं, यो जानाति स तत्ववित्॥

योगशास्त्र पृ. ५७१

१४ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (२)

'अरिहंतसिद्धआयरियउवज्झायसाहू' ये सोलह अक्षरवाली विद्या है। जो साधक इसका दो सौ बार जप करता है उसे उपवास का फल मिलता है।

'अरिहंतसिद्ध', इस छह अक्षरवाली विद्या का तीन सौ बार तथा 'अरिहंत', इस चार अक्षरवाली विद्या का चार सौ बार और 'असिआउसा', इस पांच अक्षरवाली विद्या का पांच सौ बार जप करने वाला साधक एक उपवास के फल को प्राप्त करता है।

गुरु पंचकनामोत्था विद्या स्यात् षोडशाक्षरा।
जपन् शतद्वयं तस्याश्चतुर्थस्याप्नुयात्फलम्॥
शतानि त्रीणि षड्वर्णं चत्वारि चतुरक्षरम्।
पंचवर्णं जपन् योगी, चतुर्थफलमश्नुते॥

योगशास्त्र ८.३८.३९

१५ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (३)

जैन साहित्य पूर्व और आगम, इन दो भागों में विभक्त है। पूर्व-साहित्य अपूर्व ज्ञानराशि का भंडार है। दसवें पूर्व का नाम है विद्यानुप्रवाद। उसमें अनेक विद्याओं का समाकलन है। उसमें पांच वर्ण और पांच तत्त्ववाली विद्या का निरूपण है। उससे मानसिक क्लेशों को समाप्त किया जा सकता है।

मंत्र इस प्रकार है—

ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः।

पंचवर्णमया पंचतत्त्वा विद्यादृधृता श्रुतात्।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति।।

योगशास्त्र ८.४१

१६ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (४)

मंगल, उत्तम और शरण को अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म के साथ जोड़ने पर जो मंत्र बनता है उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

बंध की मुक्ति, यह उत्कृष्ट भूमिका का वक्तव्य है व्यावहारिक भूमिका का वक्तव्य यह है कि इससे समस्याओं की मुक्ति होती है, बड़ी-बड़ी उलझनें सुलझ जाती हैं।

मंत्र पद

चत्तारि मंगलं	चत्तारि लोगुत्तमा
अरहंता मंगलं	अरहंता लोगुत्तमा
सिद्धा मंगलं	सिद्धा लोगुत्तमा
साहू मंगलं	साहू लोगुत्तमा
केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं	केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो

चत्तारि सरणं पवज्जामि
अरहंते सरणं पवज्जामि
सिद्धे सरणं पवज्जामि
साहू सरणं पवज्जामि
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि

मंगलोत्त शरण-पदान्यव्यग्रमान सः।
चतुःसमाश्रयाण्येव स्मरन् मोक्ष प्रपद्यते।।

योगशास्त्र ८.४४

१७ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (५)

एक व्यक्ति ज्ञान का विकास करना चाहता है। उसके लिए जरूरी है बुद्धि बल, ग्रहण शक्ति और स्मृति का विकास। कुछ व्यक्तियों में यह शक्ति जन्मना होती है। जिनमें यह शक्ति जन्मना नहीं होती, वे मंत्राभ्यास के द्वारा इस शक्ति को बढ़ा सकते हैं।

ज्ञानशक्ति के विकास का मंत्र—ॐ श्रीं ह्रीं अर्हं नमः।

मुक्तिसौख्यप्रदां ध्यायेद् विद्यां पंचदशाक्षरम्।
सर्वज्ञानं स्मरेन्मंत्रं सर्वज्ञानप्रकाशकम्।।
वक्तुं न कश्चिदप्यस्य, प्रभावं सर्वतः क्षमः।

योगशास्त्र ८.४३,४४

१८ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (६)

चांद के बिम्ब से समुत्पन्न, उज्ज्वल और अमृतवर्षिणी 'क्ष्वीं' विद्या को अपने ललाट पर स्थापित कर उसका ध्यान करें। उसके बाद चन्द्र कला का ललाट पर ध्यान करें।

इस ध्यान से भावनात्मक समस्याएं सुलझती हैं, क्रोध शांत होता है और परम आनंद की अनुभूति होती है।

शशिबिम्बदिवोद्भूतां स्रवन्तीममृतं सदा।
विद्यां 'क्ष्वीं' इति भालस्थं, ध्यायेत्कल्याणकारणम्।।
क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्तीं, प्लावयन्तीं सुधाम्बुभिः।
भाले शशिकलां ध्यायेत् सिद्धिसोपानपद्धतिम्।

योगशास्त्र ८.५७,५८

१६ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (७)

नासिका के अग्रभाग पर प्रणव (ॐ), शून्य (०) और अनाहत (ह) ध्यान करने वाला अणिमा आदि आठ सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है और उसके ज्ञान की निर्मलता बढ़ जाती है।

शंख, कुन्द और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल प्रणव, शून्य और अनहद का ध्यान करने वाला व्यक्ति समग्र विषयों के ज्ञान में पारंगत हो जाता है।

नासाग्रे प्रणवः शून्यमनाहतमिति त्रयम्।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम्।।
शंख-कुन्द-शशांकाभान् त्रीनमून ध्यायतः सदा।
समग्रविषयज्ञानप्रागल्भ्यं जायते नृणाम्।।

योगशास्त्र ८.६०,६१

२० जनवरी
२००६

योग और मंत्र (८)

भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। उनमें विद्या के क्षेत्र में गौतम का नाम प्रथम है। इसीलिए अनेक विद्याओं को गणधर विद्या कहा जाता है।

जिस गणधर विद्या का उल्लेख किया जा रहा है, वह अचिन्त्य फल देने वाली है।

ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूए भव्वे भविस्से अन्ते पक्खे जिणपासे स्वाहा।

कामधेनुमिवाचिन्त्य - फल - सम्पादन - क्षमाम्।
अनवद्यां जपद्विद्यां गणभृद् - वदनोद्गताम्।।

योगशास्त्र ८.६३

२१ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (६)

मन की समस्या बहुत व्यापक है। मन की शांति और प्रसन्नता के लिए बहुत लोग प्रयत्न करते हैं। प्रयत्न की सफलता के लिए आवश्यक है उपयुक्त समाधान।

मानसिक प्रसन्नता स्वाध्याय, ध्यान और मंत्र—तीनों से हो सकती है। आचार्य हेमचंद्र ने मानसिक प्रसन्नता के लिए पाप-भक्षिणी विद्या का उल्लेख किया है, वह बहुत शक्तिशाली है—

'ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि! पापात्मक्षयंकरि! श्रुतज्ञान-ज्वालासहस्रज्वलिते सरस्वति! मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरधवले! अमृतसंभवे! वं वं हूं हूं स्वाहा।।'

चिन्तयेदन्यमप्येनं, मन्त्रं कर्मौघशान्तये।
स्मरेत् सत्त्वोपकाराय, विद्यां तां पापभक्षिणीम्।।

योगशास्त्र ८.७२

२२ जनवरी
२००६

योग और मंत्र (१०)

जैन परम्परा में वज्रस्वामी तथा उनके पार्श्ववर्ती अनेक मंत्रविद् आचार्यों ने विद्याप्रवाद नामक नौवें पूर्व से अनेक विद्याओं को उद्धृत किया। उनमें सिद्धचक्र का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसका एक प्रयोग है–

मंत्र–

'अ'–नाभिकमल

'सि'–मस्तककमल

'आ'–मुखकमल

'उ'–हृदयकमल

'सा'–कंठकमल

नाभिपद्मे स्थितं ध्यायेदकारं विश्वतोमुखम्।
'सि' वर्णं मस्तकाम्भोजे, 'आ' कारं वदनाम्बुजे॥
'उ' कारं हृदयाम्भोजे, 'सा' कारं कण्ठपंकजे।
सर्वकल्याणकारीणि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत्॥

योगशास्त्र ८.७६,७७

२३ जनवरी
२००६

अमनस्क योग (१)

मन शांत होने पर अमनस्क अवस्था का निर्माण होता है। उस अवस्था में पूरा शरीर छत्र की भांति पूरा शिथिल हो जाता है और स्तब्धता, अकड़न समाप्त हो जाती है।

मन निरंतर चुभन पैदा करता रहता है। उस चुभन को दूर करने के लिए अमनस्कता जैसा कोई बड़ा औषध नहीं है।

अमनस्कतया संजयामानया नाशिते मनःशल्ये।
शिथिली भवति शरीरं छत्रमिव स्तब्धतां त्यक्त्वा।।
शल्यीभूतस्यान्तःकरणस्य क्लेशदायिनः सततम्।
अमनस्कतां विनाऽन्यद् विशल्यकरणौषधं नास्ति।।

योगशास्त्र १२.३८,३९

२४ जनवरी
२००६

अमनस्क योग (२)

मन अति चंचल, अति सूक्ष्म और तीव्र वेगवाला है। उसकी गति को रोकना बहुत कठिन है। योगी उसे विश्राम देने का प्रयत्न नहीं करता। वह अप्रमाद की स्थिति में रहकर अमनस्कता रूपी शलाका से उसकी चंचलता और गति-वेग को मंद कर देता है।

अतिचञ्चलमतिसूक्ष्मं, दुर्लक्ष्यं वेगवत्तया चेतः।
अश्रान्तप्रमादाद्, अमनस्कशलाकया भिन्द्यात्।।

योगशास्त्र १२.४१

२५ जनवरी
२००६

अमनस्क योग (३)

ध्यान की सिद्धि के लिए प्राणायाम का प्रयोग किया जाता है।

१. रेचक

२. पूरक

३. कुंभक

अमनस्कता की सिद्धि होने पर कुंभक का अभ्यास न करने पर भी श्वासवायु अपने आप निरुद्ध हो जाती है। प्रयत्न किए बिना भी कुंभक की स्थिति बन जाती है।

रेचक-पूरक-कुंभक-करणाभ्यासक्रमं विनाऽपि खलु।
स्वयमेव नश्यति मरुद् विमनस्के सत्ययत्नेन॥

योगशास्त्र १२.४४

२६ जनवरी
२००६

अमनस्क योग (४)

श्वासवायु को लम्बे समय तक रोका नहीं जा सकता। दीर्घकाल तक श्वास निरोध (कुंभक) करना बहुत कठिन काम है। अमनस्कता की सिद्धि होने पर श्वास का निरोध तत्काल अपने आप हो जाता है।

अमनस्कता का अभ्यास स्थिर होने पर योगी मुक्त जैसा हो जाता है। उसके श्वास का समूल उन्मूलन हो जाता है।

चिरमाहितप्रयत्नैरपि धर्तुं यो हि शक्यते नैव।
सत्यमनस्के तिष्ठति, स समीरस्तत्क्षणादेव।।
जातेऽभ्यासे स्थिरताम् उदयति विमले च निष्कले तत्त्वे।
मुक्त इव भाति योगी, समूलमुन्मूलितश्वासः।।

योगशास्त्र १२.४५,४६

२७ जनवरी
२००६

अमनस्क योग (५)

सामान्य मनुष्य का समय जाग्रत और नींद में बंटा हुआ है—कभी नींद लेता है, कभी जागता है। औदासीन्य में निमग्न योगी न जागता है और न सोता है।

इस विषय में आचारांग का यह सूत्र मननीय है—

सुत्त अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति।

अमनस्क योगी की चेतना की वह दशा होती है जिसमें वह चेतना के महासागर की गहराई में चला जाता है। वहां सतत जागरूकता रहती है। इसलिए इस अवस्था में नींद और जागरण का क्रम समाप्त हो जाता है।

जागरणस्वप्नजुषो जगतीतलवर्तिनः सदा लोकाः।
तत्वविदो लयमग्ना नो जाग्रति शेरते नापि॥

योगशास्त्र १२.४८

२८ जनवरी
२००६

अमनस्क योग (६)

औदासीन्य शून्यता और जागरण—इन दोनों अवस्थाओं से परे की बात है। निद्रा के क्षण में मनुष्य चेतनाशून्य रहता है। जागरण के क्षण में चेतना विषय का ग्रहण करती रहती है।

औदासीन्य और अमनस्कता का क्षण शून्यता और विषय ग्रहण का नहीं है। वह इन दोनों से परे चेतना की आनन्दमयी अवस्थिति है।

भवति खलु शून्यभावः स्वप्ने विषयग्रहश्च जागरणे।
एतद् द्वितयमतीत्यानन्दमयमवस्थितं तत्त्वम्॥

योगशास्त्र १२.४६

२६ जनवरी
२००६

अयोग अवस्था

भंते! योग (शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है?

योग-प्रत्याख्यान से जीव अयोगत्व (सर्वथा अप्रकम्प भाव) को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नये कर्मों का अर्जन नहीं करता और पूर्वार्जित कर्मों को क्षीण कर देता है।

जोग पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ।।

उत्तरज्झयणाणि २९.३८

३० जनवरी
२००६

अध्यात्म योग

अध्यात्म योग (१)

धर्म का मूल स्रोत है अध्यात्म की पहचान। धर्म की उत्पत्ति आत्मा के बिना नहीं हो सकती, इस दृष्टि से उसका उद्‌गम आत्मा को माना गया है। जो आत्मा को अच्छी तरह जान लेता है, वह संसार के सब पदार्थों को जान लेता है। निश्चय नय के अनुसार आत्मा ही सब कुछ है और वही ज्ञातव्य है। इस अपेक्षा से आत्मा का ज्ञान ही अध्यात्म का परम विज्ञान है।

मूल स्रोत है धर्म का, आत्मा की पहचान।
एक साधे सब सधे, यही परम विज्ञान।।

अध्यात्म पदावली १

३१ जनवरी
२००६

अध्यात्म योग (२)

आत्मा की पहचान या आत्मानुभव में बाधक तत्त्व है विकार। उसकी उत्पत्ति के दो प्रबल कारण हैं—अहंकार और ममकार। इन दोनों सेनानियों पर विजय पाने से ही आत्मा की पहचान हो सकती है।

आत्मा की अनुभूति में, बाधक एक विचार।
घटक उभय उसके प्रखर, अहंकार ममकार।।

अध्यात्म पदावली २

१ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (३)

जहां अहंकार है, वहां उपाधि (भावनात्मक रोग) है। क्योंकि इनका आपस में गहरा संबंध है। उपाधि शब्द का एक अर्थ आरोपित या अर्जित विशेषण भी है। चेतना मूलतः निरुपाधिक होती है। निरुपाधिक अवस्था में अहंकार को पनपने का अवकाश ही नहीं रहता। किन्तु जब तक वह मोह के घेरे से मुक्त नहीं होती, निरुपाधिक नहीं बन पाती।

अहंकार उपाधि का, अविच्छिन्न संबंध।
निरुपाधिक चैतन्य का, यह कैसा अनुबंध।।

अध्यात्म पदावली ३

२ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (४)

मैं धनवान हूं, मैं न्यायवेत्ता हूं, मैं ही एक मात्र आधार हूं—इस प्रकार व्यक्ति किसी भी स्थिति के साथ 'अहं' तत्त्व या 'मैं' भाव को जोड़ता है। यह एक तरह का आरोपण है। इस आरोपण के चक्र में ही जगत् का सारा व्यवहार चलता है।

मैं समृद्ध मैं न्यायविद्, मैं अनन्य आधार।
आरोपण के चक्र में, चलता जग व्यवहार॥

अध्यात्म पदावली ४

३ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (५)

जहां औपाधिक चेतना की प्रबलता हो तथा क्रोध, अभिमान और लोभ की प्रबलता हो, वहां आत्मा की पहचान कैसे होगी? उसकी पहचान में सर्वाधिक बाधक तत्त्व उपाधियां और कषाय की प्रबलता है।

प्रबल उपाधिक चेतना, प्रबल क्रोध अभिमान।
प्रबल लोभ कैसे बने, आत्मा की पहचान।।

अध्यात्म पदावली ५

४ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (६)

मैं हूं और मैं है—इन दो वाक्यों में भेद है, उस पर ध्यान केन्द्रित होने से ही आत्मा की पहचान संभव है। उक्त वाक्यों में 'हूं' उपाधि का प्रतीक है तथा 'है' अस्तित्व का सूचक है।

मैं हूं मैं है भेद पर, जब जाता है ध्यान।
संभव बनती है तभी, आत्मा की पहचान।।

अध्यात्म पदावली ६

५ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (७)

आत्मा पर मूर्च्छा का आवरण होता है तब अहंकार और ममकार जागता है। मूर्च्छा का आवरण हटने के बाद अमुक काम करने वाला मैं हूं, अमुक वस्तु मेरी है—इस प्रकार का भाव चेतना का स्वभाव नहीं बनता। क्योंकि उपाधि का मूल कारण मूर्च्छा है। उपाधि के अभाव में मैं और मेरेपन का भाव पैदा नहीं होता। 'अयमात्मा'—यह आत्मा है, इस वाक्य में केवल अस्तित्व का बोध होता है। इसके साथ मूर्च्छा का योग होते ही 'अहमात्मा'—मैं आत्मा हूं, यह अहंकार जन्म लेता है।

मूर्च्छा यदि होती नहीं, तो मैं मेरा भाव।
चेतन के चैतन्य का, बनता नहीं स्वभाव।।

अध्यात्म पदावली ७

६ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (८)

पुद्गल जड़ है और आत्मा चेतन है। इन दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। पुद्गल कभी चेतन नहीं हो सकता और आत्मा कभी जड़ नहीं हो सकती। फिर भी इनके बीच स्व-स्वामीभाव संबंध बनता है। आत्मा स्वामी बनती है और पुद्गल उसका स्व बनता है। इसका कारण मूर्च्छा है। मूर्च्छा न हो तो संबंध की स्थापना हो ही नहीं सकती।

पुद्गल जड़ चित् चेतना, दोनों भिन्न स्वभाव।
स्व-स्वामी संबंध है, मूर्च्छा का अनुभाव॥

अध्यात्म पदावली ८

७ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (६)

जहां ममता है, मूर्च्छा है, उसकी परिणति विपरीत दृष्टिकोण में होती है। विपरीत दृष्टिकोण का नाम मिथ्यात्व है। उसका हेतु है ममता। जहां समता की अनुभूति होती है वहां दृष्टिकोण सम्यक् बनता है। आत्मा का विकास उसी स्थिति में संभव है।

दृष्टि-विपर्यय है सही, ममता का परिणाम।
समता की अनुभूति में, आत्मोदय अभिराम।।

अध्यात्म पदावली ६

८ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (१०)

पर भाव में अपनेपन की बृद्धि दुःख का मूल कारण है। अपनी आत्मा के अतिरिक्त संसार में जो कुछ है, वह पर है—यह एक सचाई है। इस सचाई पर आवरण आते ही व्यक्ति पर के साथ अपनत्व जोड़ लेता है। इससे आत्मस्वरूप की विस्मृति हो जाती है। यह एक विचित्र चक्रवात है। इसमें फंसने के बाद निकलना बहुत मुश्किल हो जाता है।

पर में जो आत्मीय मति, वही दुःख का मूल।
विस्मृति है निज भाव की, यह कैसा वातूल।।

अध्यात्म पदावली १०

६ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (११)

कर्म मोह का हेतु बनता है और मोह कर्म का हेतु बनता है। इनमें हेतु-हेतुमद्भाव संबंध है। अतीत का मोह कर्म का हेतु है और वर्तमान का कर्म भावी मोह का हेतु है। पदार्थ और भाव का संयोजन करने वाला सेतु यही मोह है। मूलतः पदार्थ अलग है और भाव अलग है। मोह इन दोनों को जोड़ देता है।

कर्म मोह का हेतु है, मोह कर्म का हेतु।
बनता भाव पदार्थ का, यह संयोजक सेतु।।

अध्यात्म पदावली ११

१० फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (१२)

अध्यात्म योग के आधार स्तम्भ चार हैं–

१. आत्मा

२. पुनर्जन्म

३. कर्म का बंध

४. कर्म का उदय

आचारांग में अध्यात्म के चार स्तम्भ प्रकारान्तर से मिलते हैं–

१. आत्मवाद

२. लोकवाद

३. कर्मवाद

४. क्रियावाद

से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई।

आयारो १.१.५

११ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (१३)

कुछ लोग नहीं जानते–

१. मेरा पुनर्जन्म होगा।

२. मैं पिछले जन्म में कौन था?

३. मैं यहां से च्युत होकर अगले जन्म में क्या होऊंगा।

जो व्यक्ति केवल अपने वर्तमान को जानता है, अतीत और भविष्य को नहीं जानता, वह अध्यात्म योग का साधक नहीं हो सकता।

एवमेगेसिं णो णातं भवति–अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि।

आयारो १.१.२

१२ फरवरी
२००६

अध्यात्म योग (१४)

अध्यात्म योग की साधना के तीन प्रस्थान हैं–

१. सम्यक् दर्शन

२. सम्यक् ज्ञान

३. सम्यक् चारित्र

उमास्वाति ने इन्हें मोक्ष का मार्ग बतलाया है, उसमें प्रथम सम्यक् दर्शन है, जो सम्यक्त्व का व्यावहारिक रूप है। व्यवहार शास्त्र की भाषा में इन्हें समस्या के समाधान का मार्ग कहा जा सकता है।

अध्यात्म योग की साधना के लिए इन तीनों का समन्वय आवश्यक है।

सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः।

तत्त्वार्थ सूत्र १.१

१३ फरवरी

२००६

अध्यात्म के आधार-स्तंभ

अध्यात्म के मूलभूत आधार-स्तंभ दो हैं—आत्मा और कर्म। यदि हम आत्मा और कर्म को हटा लें तो अध्यात्म आधारशून्य हो जाता है। अध्यात्म की समूची योजना, समूची परिकल्पना और व्यवस्था इस आधार पर है कि आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। यदि आत्मा नहीं है तो किसे मुक्त किया जाए? यदि कर्म से मुक्त करना है, यदि आत्मा नहीं है तो किसे मुक्त किया जाए? कोई व्यवस्था नहीं बनती। 'आत्मा को कर्म से मुक्त करना है' इस सीमा में समूचा अध्यात्म समा जाता है।

१४ फरवरी
२००६

आत्मा

आत्मा के तीन प्रकार हैं–

१. बहिरात्मा–आत्मा का वह पर्याय, जिसमें जीने वाला व्यक्ति शरीर को ही आत्मा मानता है।

२. अंतरात्मा–आत्मा का वह पर्याय, जिसमें जीने वाला व्यक्ति आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है।

३. परमात्मा–आत्मा का वह पर्याय, जो शुद्ध और शरीर से मुक्त होता है।

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥

ज्ञानार्णव ३२.६–८

१५ फरवरी
२००६

अखण्ड आत्मा

शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र जीव से भिन्न नहीं हैं। इस अवस्था में उनका पृथक्-पृथक् व्यपदेश क्यों किया जाता है? एक अखण्ड आत्मा का ही प्रतिपादन करना चाहिए। इस प्रश्न का समाधान एक व्यावहारिक दृष्टांत के द्वारा किया गया है।

जैसे अनार्य (म्लेच्छ) को समझाने के लिए अनार्य भाषा का प्रयोग आवश्यक होता है वैसे ही परमार्थ को समझाने के लिए व्यवहार की भाषा का प्रयोग आवश्यक होता है।

जह णवि सक्कमणज्जो अणवज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं।।

समयसार ८

१६ फरवरी

२००६

आत्मज्ञान (१)

अपने आत्मस्वरूप को जाने बिना परमात्म-स्वरूप का ज्ञानं नहीं हो सकता। इसलिए साधक को साधना से पूर्व आत्मा का ज्ञान करना चाहिए।

जो आत्मतत्त्व से अनिभज्ञ है, उसकी आत्मा में अवस्थिति नहीं हो सकती। आत्मतत्त्व को नहीं जानने वाला शरीर और आत्मा के भेद का अनुभव नहीं कर सकता।

अनन्तगुणराजीवबन्धुरप्यत्र वञ्चितः।
अहो भवमहाकक्षे प्रागहं कर्मवैरिभिः।।
स्वविभ्रमसमुद्भूतै रागाद्यतुलबन्धनैः।
बद्धो विडम्बितः कालमनन्तं जन्मदुर्गमे।।

ज्ञानार्णव ३२.१,२

१७ फरवरी
२००६

आत्मज्ञान (२)

शरीर और आत्मा के भेद को जाने बिना आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके बिना भेदविज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए मुमुक्षु साधक को सर्वप्रथम विभावपर्यायों से रहित स्वभावस्थित आत्मा का निश्चय करना चाहिए।

आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना भी कुछ लोग ध्यान की साधना करते हैं, किन्तु वे उस भूमिका तक नहीं पहुंच सकते, जहां आत्मज्ञ पहुंचते हैं।

अद्य रागज्वरो जीर्णो मोहनिद्राद्य निर्गता।
ततः कर्मरिपुं हन्मि ध्याननिस्त्रिंशधारया॥
आत्मानमेव पश्यामि निर्द्धूयाज्ञानजं तमः।
प्लोषयामि तथात्युग्र कर्मेन्धनसमुत्करम्॥

ज्ञानार्णव ३१.३,४

१८ फरवरी
२००६

आत्मशक्ति

पांच इन्द्रिय वाले देव, मनुष्य और तिर्यंच तुम्हारे लिए दुःखद कैसे हो सकते हैं? एक इन्द्रिय वाली वायु भी प्रतिकूल नहीं होती, वह भी सदा अनुकूल रहती है।

तुमने दुर्दान्त राग और द्वेष का दमन किया। विषय-विकारों पर विजय प्राप्त की। मैं तुम्हारी शरण में आया हूं। तुम गति और मति देने वाले हो।

पंचेन्द्री सुर नर तिरि तुम स्यूं, किम होव दुखदायो।
एकेन्द्री अनिल तजै प्रतिकूलपणुं, बाजै गमतो वायो रा।।
रागद्वेष दुर्दंत तै दमिया, जीत्या विषय विकारो।
दीनदयाल आयो तुम सरणै, तूं गति मति दाता रो रा।।

चौबीसी २०.५,६

१६ फरवरी

२००६

आत्मा का अनुचिंतन

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इन तीनों का बार-बार चिंतन करना चाहिए। निश्चय नय के अनुसार तीनों आत्मा से अभिन्न हैं, इसलिए इनके अनुचिंतन का अर्थ है—आत्मा का अनुचिंतन करना।

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तम्हा कुण भावणं आदे।।

समयसार १

२० फरवरी
२००६

आत्मा का स्वरूप

'घी का घड़ा' इस व्यपदेश का मुख्य आधार उपचार है। वास्तव में घड़ा मिट्टी का है। ठीक इसी प्रकार जीव के मनुष्य, तिर्यंच, देव आदि भेद किए जाते हैं। यह व्यवहार मात्र है। जीव चैतन्यस्वरूप है। वह शरीर और शरीरजनित उपाधियों से भिन्न है। वह अनादि, अनंत, अचल, स्वसंवेद्य और चैतन्यस्वरूप है।

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवो जल्पनेऽपि न तन्मयः।।
अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते।।

समयसार २.८,६

२१ फरवरी
२००६

अध्यात्म

सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है।

गुरु और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी-जनों का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का चिंतन करना तथा धैर्य रखना, यह अध्यात्म का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है।

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं।।
तस्सेव मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.२,३

२२ फरवरी
२००६

अध्यात्म का आलोक

अत्यंत दुर्धर समितियां, गुप्तियां एवं उदार धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये मोक्षदायक श्रेयतत्त्व हैं। तुमने अपार प्रसन्नता के साथ इनका वरण किया।

तुमने शारीरिक चंचलता छोड़, पद्मासन की मुद्रा में विराजमान हो उत्कृष्ट ध्यान का आलंबन लिया।

संयम, तप, जप और शील मोक्ष के साधन और महान् सुख देने वाले हैं। अध्यात्म के आलोक से तुमने अनित्य, अशरण और अनंत की अनुप्रेक्षा कर निर्मल ध्यान का प्रयोग किया।

समिति गुप्ति दुर्धर घणां, धर्म शुकल ध्यान उदार रे।
ए श्रेय वस्तु शिवदायनी, आप आदरी हरष अपार रे।।
तन चंचलता मेट नैं, पद्मासन आप विराज रे।
उत्कृष्ट ध्यान तणो कियो, आलंबन श्री जिनराज रे।।
संजम तप जप शील ए, शिव-साधन महा सुखकार रे।
अनित्य अशरण अनंत ए, ध्यायो निर्मल ध्यान उदार रे।।

चौबीसी ११.२,३,५

२३ फरवरी

२००६

कर्म के दो बीज : राग-द्वेष

जैसे बलाका अंडे से उत्पन्न होती है और अंडा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख कहा गया है।

जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हं, मोहं च तण्हाययणं वयंति।।
रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.६,७

२४ फरवरी
२००६

राग-द्वेष की उपशांति के उपाय

जिसके मोह नहीं हैं, उसने दुःख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया। जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया।

राग, द्वेष और मोह का मूल सहित उन्मूलन चाहने वाले मनुष्य को उपायों का आलंबन लेना चाहिए।

दुक्खं हयं जस्स न होई मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.८

२५ फरवरी
२००६

दुःख का मूल कारण

संसार के दुःख का मूल कारण क्या है? इसकी खोज शुरू हुई। निष्कर्ष की भाषा में बताया गया कि शरीर में आत्मा की बुद्धि का होना संसार के दुःख का मूल कारण है। यदि तुम संसार के दुःख से मुक्ति पाना चाहते हो तो शरीर में होने वाली आत्मा की बुद्धि को छोड़ो और इन्द्रियों को अंतर्मुखी बनाओ।

मूलं संसारदुःखस्य, देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः।।

समाधि शतक १५

२६ फरवरी
२००६

काम है दुःख का मूल

सब जीवों के और तो क्या, देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख हैं, वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतराग उस दुःख का अंत पा जाता है।

जैसे किंपाक फल खाने के समय रस और वर्ण से मनोरम होते हैं और परिपाक के समय जीवन का अंत कर देते हैं, कामगुण भी विपाक काल में ऐसे ही होते हैं।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।।
जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वैण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.१९,२०

२७ फरवरी
२००६

धर्म का पहला द्वार

क्षांति धर्म का पहला द्वार है।

भंते! क्षांति (सहिष्णुता) से जीव क्या प्राप्त करता है?

क्षांति से वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

खंतीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?
खंतीए णं परीसहे जिणइ।

उत्तरज्झयणाणि २६.४७

२८ फरवरी
२००६

धर्म का दूसरा द्वार

मुक्ति धर्म का दूसरा द्वार है।

भंते! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव क्या प्राप्त करता है?

मुक्ति से जीव अकिंचनता को प्राप्त होता है। अकिंचन जीव अर्थ-लोलुप पुरुषों के द्वारा अप्रार्थनीय होता है—उसके पास कोई याचना नहीं करता।

मुत्तीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं अपत्थणिज्जो भवइ॥

उत्तरज्झयणाणि २९.४८

१ मार्च

२००६

धर्म का तीसरा द्वार

ऋजुता धर्म का तीसरा द्वार है।

भंते! ऋजुता से जीव क्या प्राप्त करता है?

ऋजुता से वह काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता और कथनी-करनी की समानता को प्राप्त होता है। कथनी-करनी की समानता से सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।

अज्जवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।

उत्तरज्झयणाणि २६.४६

२ मार्च
२००६

धर्म का चौथा द्वार

मृदुता धर्म का चौथा द्वार है।

भंते! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है?

मृदुता से वह अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदु–मार्दव से सम्पन्न होकर मद के आठ स्थानों का विनाश कर देता है।

मद्दवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्तेणं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठवेइ।

उत्तरज्झयणाणि २६.५०

३ मार्च
२००६

द्रष्टा

मन की चंचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए। वह जब, जहां और जैसे जाता है, उसे जाने दीजिए, उसे देखते रहिए। उस समय मन को दृश्य या ज्ञेय बना लीजिए। इस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप में जागरूक रहकर मन का अध्ययन ही नहीं कर पाएंगे, किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे।

४ मार्च
२००६

ज्ञायक भाव (१)

ज्ञायक भाव की स्थिति को प्राप्त शुद्धात्मा न प्रमत्त होता और न अप्रमत्त होता। यह शुद्ध नय को जानने वाले साधकों का अभिमत है। वह ज्ञाता है। ज्ञाता–आत्मा शुद्ध आत्मा होती है, इसलिए उसके लिए प्रमत्त और अप्रमत्त का व्यपदेश नहीं करना चाहिए।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणणो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव।।

समयसार ६

५ मार्च
२००६

ज्ञायक भाव (२)

व्यवहार नय के द्वारा दर्शन, ज्ञान और चारित्र का पृथक्-पृथक् व्यपदेश किया जाता है। शुद्ध नय की दृष्टि में ज्ञायक भाव में ज्ञान, दर्शन और चारित्र सबका समावेश होता है, इसलिए उनका पृथक्-पृथक् व्यपदेश नहीं होता।

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।

समयसार ७

६ मार्च
२००६

ज्ञाता-द्रष्टा भाव (१)

जीवन में कोई भी घटना घटित होती है, अज्ञानी उसको दिन-रात भोगता है। घटना हो या पदार्थ, उसे भोगने वाला भोक्ता कहलाता है। ज्ञानी व्यक्ति के जीवन में भी घटना घटित होती रहती है। वह उससे साक्षात् जानता-देखता है, पर उससे प्रभावित नहीं होता। वह ज्ञाता-द्रष्टा है, पर भोक्ता नहीं है।

अध्यात्म का उद्देश्य है भोक्ता को ज्ञाता-द्रष्टा बनाना। यह अज्ञानी से ज्ञानी बनने की यात्रा है।

अज्ञानी जन भोगता, घटना को दिन रात।
ज्ञानी केवल जानता, घटना को साक्षात्।।

अध्यात्म पदावली ४८

७ मार्च
२००६

ज्ञाता-द्रष्टा भाव (२)

जागरूकता से श्रेष्ठ रुचि का निर्माण होता है और श्रेष्ठ रुचि से जागरूकता बढ़ती है तथा कार्यों में प्राणवत्ता आ जाती है।

जागरूकता और रुचि—ये दोनों एक दृष्टि से पर्यायवाची हैं। जिस व्यक्ति की रुचि परिष्कृत होती है, उसकी जागरूकता सहज ही बढ़ जाती है। जो व्यक्ति जागरूक होता है, वह अपनी रुचि को परिष्कृत कर लेता है।

जागरूकता से प्रवर, होता रुचि-निर्माण।
रुचि ही कार्य कलाप को करती है सप्राण।।

अध्यात्म पदावली ५०

८ मार्च

२००६

रंग सहित तीर्थंकर का ध्यान

मन की स्थिरता प्राप्त होने के बाद तीर्थंकर का ध्यान करें। चौबीस तीर्थंकरों के शरीर के जो-जो रंग थे, उन-उन रंगों के साथ उनका चिंतन करें।

ध्याता जिस स्थान पर बैठा हो, उससे दो, तीन या चार हाथ की दूरी पर तीर्थंकर को (मानसिक रूप में) स्थापित करें। ऐसा अनुभव करें, मानों साक्षात् रूप से तीर्थंकर विराजमान हैं और उनका आसन स्थिर है। उसके बाद काला, नीला, लाल और श्वेत–इन चारों में जो इष्ट लगे उसी का चिंतन करें।

६ मार्च
२००६

मानसिक दुःख की चिकित्सा

मोह से मन में विकल्प पैदा होते हैं और मन से ही मोह उपशांत होता है। यह मोह के उपशम का अभ्यन्तर उपाय है।

मोह को उपशांत करने का उपाय है समता। यह एक सुखकर आलंबन है। समताभाव की निरन्तर साधना करने पर प्रियता और अप्रियता के क्षणों से निरन्तर बचने पर असीम आनंद प्रकट होता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष—ये सब दुःख देने वाले शत्रु हैं। इन्हें समताभाव की साधना के द्वारा ही उपशांत किया जा सकता है।

आराधना पृ ६६

१० मार्च
२००६

समत्व की साधना (१)

तुमने (भगवान ऋषभ ने) अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को समभाव से सहन कर विविध प्रकार का तप तपा। भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मा और शरीर को भिन्न समझकर वे शुक्लध्यान में लीन हो गए।

तुम संवेग रूप सरोवर में शांतरस रूप जल में तल्लीन होकर डुबकियां लगाते रहे। निन्दा-स्तुति और सुख-दुःख इन द्वन्द्वों में सम रहना ही साधना का पथ है। इस तथ्य को तुमने भली-भांति समझ लिया।

अनुकूल प्रतिकूल सम सही, तप विविध तपंदा।
चेतन तन भिन्न लेखवी, ध्यान शुकल ध्यावंदा।
संवेग-सरवर झूलता, उपशम-रस लीना।
निंदा-स्तुति सुख-दुःख में, समभाव सुचीना।।

चौबीसी १.२,४

११ मार्च
२००६

समत्व की साधना (२)

तुम (भगवान ऋषभ) बसौले से काटने और चंदन से चर्चित करने पर समचित्त रहे। तुमने स्थिर-चित्त होकर ध्यान किया। इस प्रकार देहाध्यास को छोड़ तुम केवली बन गए।

मैं तुम्हारे चरणों में समर्पित हूं। उस स्थिति को मैं किस दिन प्राप्त कर सकूंगा? मेरा मन उतावला हो रहा है।

वासी चंदन समपणैं, थिर-चित जिन ध्याया।
इम तन-सार तजी करी, प्रभु केवल पाया।।
हूं बलिहारी तांहरी वाह! वाह!! जिनराया।
उवा दिशा किण दिन आवसी, मुझ मन उम्हाया।।

चौबीसी १.५,६

१२ मार्च
२००६

मन की एकाग्रता और शरीर की स्थिरता

तुमने (भगवान संभव ने) निर्मल ध्यान किया, किसी एक वस्तु पर दृष्टि को टिका मन को मेरु के समान अडोल बना लिया।

तुम शारीरिक चपलता को छोड़कर जगत् से उदासीन हो गये। स्थिर चित्त से धर्म और शुक्ल ध्यान को धारण कर उपशम रस में लीन बन गए।

संभव साहिब समरियै, ध्यायो है जिन निर्मल ध्यान कै।
एक पुद्गल दृष्टि थांप नै, कीधो है मन मेर समान कै।।
तन-चंचलता मेट नैं, हुआ है जग थी उदासीन कै।
धर्म शुकल थिर चित धरै, उपशम रस में होय रह्या लीन कै।।

चौबीसी ३.१,२

१३ मार्च
२००६

गुण-संक्रमण

शीतल प्रभो! तुम शिवदायक और चांद के समान शीतल हो। तुम अमृत-तुल्य हो। तुम्हारे ध्यान से ताप-संताप मिट जाता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ—यह कषाय-चतुष्क अग्नि से अधिक तीव्र आग है। तुमने शुक्ल-ध्यान रूपी जल के द्वारा उसे बुझा दिया। फलतः तुम शीतलीभूत हो गए।

इन्द्रियां और मन प्रचंड, दुर्जय और दुर्दान्त हैं। तुमने मन को स्थिर कर उन्हें जीत लिया और उपशम भाव धारण कर चित्त को शांत कर लिया

शीतल जिन शिवदायका साहिबजी!
शीतल चंद समान हो, निसनेही।
शीतल अमृत सारिषा साहिबा जी!
तप्त मिटै तुम ध्यान हो, निसनेही।।
क्रोध मान माया लोभ ए साहिब जी,
अग्नि सूं अधिकी आग हो, निसनेही।
शुकल ध्यान रूप जल करी साहिबजी,
शीतलीभूत म्हाभाग हो, निसनेही।।
इन्द्रिय नोइन्द्रिय आकरा साहिब जी,
दुर्जय नैं दुर्दांत हो, निसनेही।
तैं जीत्या मन थिर करी साहिबजी,
धर उपशम चित शांत हो निसनेही।

चौबीसी १०.१,४,५

१४ मार्च
२००६

रूपान्तरण

मोक्ष के सुखों से तुम्हारी प्रीति है, फिर भी तुम राग-रहित हो। तुम कर्म का हनन करते हो, फिर भी तुम द्वेष-रहित हो।

तुम्हारा चरित्र आश्चर्यकारी है। मैं बद्धांजलि होकर तुम्हें प्रतिदिन प्रणाम करता हूं।

राग-रहित शिव सुख स्यूं प्रीत, कर्म हणै बलि द्वेष रहीत।
इचरजकारी थांरो चरित्त, हूं प्रणमूं कर जोड़ी नित्त।।

चौबीसी २२.५,६

१५ मार्च
२००६

चेतना का रूपान्तरण

लोहे को सोना बनाने वाला पारस नकली है। उसे कौन हाथ में लेगा? पार्श्व प्रभु! असली पारस तुम हो जो लोहे को भी पारस बना देते हो।

तुम सिंह के आकार वाले स्फटिक मणि से निर्मित सिंहासन पर बैठकर देशना देते हो, वन्य पशु तुम्हारी वाणी सुनने के लिए आ जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सिंह की उपासना में बैठे हों।

लोह कंचन करै पारस काचो, ते कहो कर कुण लेवै हो।
पारस तूं प्रभु साचो पारस, आप समो कर देवै हो।।
फटिक-सिंहासन सिंह आकारे, वैस देशना देवै हो।
वन-मृग आवै वाणी सुणवा, जाणक सिंह नै सेवै हो।।

चौबीसी २३.१,३

१६ मार्च
२००६

प्रसन्नता का शिखर

संगम देव ने भयंकर कष्ट दिये फिर भी दयासिन्धो! तुम्हारी दृष्टि सुप्रसन्न थी। तुमने यही सोचा कि अद्भुत है यह बात–मुझसे जगत् का उद्धार हो रहा है और यह मुझे निमित्त बना डूब रहा है!

आदिवासी लोगों ने तुम्हें नाना प्रकार के कष्ट दिये। तुम ध्यान–सुधा के रस में लीन थे। इसलिए तुम्हारी प्रसन्नता कभी टूट नहीं पायी।

इस प्रकार कर्मक्षय कर तुमने केवलज्ञान प्राप्त किया और उपशम रस से भरी हुई अनुपम वाणी का उद्घोष किया।

संगम दुख दिया आकरा रे, सुप्रसन्न निजर दयाल।
जग उद्धार हुवै मो थकी रे, ए डूबै इण काल।।
लोक अनारज बहु कियो रे, उपसर्ग विविध प्रकार।
ध्यान–सुधारस लीनता जिन, मन में हरष अपार।।
इण पर कर्म खपाय नै प्रभु, पाया केवल नाण।
उपशम रसमय वागरी रे, अधिक अनुपम वाण।।

चौबीसी २४.२–४

१७ मार्च
२००६

विरक्ति का चिंतन

काम अथवा कामना के पीछे वही व्यक्ति दौड़ता है जिसकी बुद्धि समीचीन नहीं होती। कामना की तीन प्रकृतियां हैं। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती तब तक वह संताप (तनाव) पैदा करती है। उसकी प्राप्ति होने पर अतृप्ति बढ़ जाती है, तृप्ति की अनुभूति नहीं होती। उसका उपभोग करते-करते चेतना मूर्च्छित हो जाती है। उसका परित्याग करना कठिन होता है।

आरम्भे तापकान् प्राप्तौ-अतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेचते सुधीः।।

इष्टोपदेश १७

१८ मार्च
२००६

भाव (१)

भाव का शाब्दिक अर्थ है—होना। इसका पारिभाषिक अर्थ है—मोह के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होने वाला जीव का स्पन्दन। इसलिए भाव को जीव का स्वरूप कहा गया है। किसी एक पर्याय के आधार पर हम जीव के स्वरूप को नहीं जान सकते, उसके विभिन्न पर्याय ही उसके अस्तित्व को प्रकट करते हैं।

भाव के छः प्रकार हैं—१. औदयिक २. औपशमिक ३. क्षायिक ४. क्षायोपशमिक ५. पारिणामिक ६. सान्निपातिक।

छनामे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–१. उदइए २. उवसमिए ३. खइए ४. खओवसमिए ५. पारिणामिए ६. सन्निवाइए।

अणुओगदाराइं ७.२७१

१६ मार्च
२००६

भाव (२)

जीव का अस्तित्व निरूपाधिक है। उसके उपाधि कर्म के उदय अथवा विलय से होती है, जैसे—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव अज्ञानी कहलाता है, उसके क्षयोपशम से जीव मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी कहलाता है। औदयिक भाव से मनुष्य का बाहरी व्यक्तित्व निर्मित होता है। क्षायोपशमिक भाव से उसके आंतरिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

२० मार्च
२००६

भाव (३)

भाव का एक प्रकार है—औदयिक भाव। क्रोध, मान, माया, लोभ और कामवासना—ये सब कर्म के उदय से होने वाले भाव हैं। इन्हें शुद्ध चैतन्य की दृष्टि से नकारात्मक भाव भी कहा जा सकता है।

क्षायोपशमिक भाव, यह भाव का चौथा प्रकार है। इसका विकास होने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि सकारात्मक गुणों का विकास होता है।

२१ मार्च
२००६

ज्ञानयोग

जो परस्पर एक–दूसरे की आशंका से या दूसरे के देखते हुए पाप–कर्म नहीं करता, क्या उसका कारण ज्ञानी होना है?

पाप–कर्म नहीं करने की प्रेरणा अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञानी जैसे दूसरों के प्रत्यक्ष में पाप नहीं करता।

जो व्यावहारिक बुद्धि वाला होता है, वह दूसरों के प्रत्यक्ष में पाप नहीं करता, किंतु परोक्ष में पाप करता है।

शिष्य ने पूछा—गुरुदेव! जो व्यक्ति दूसरों के भय, आशंका या लज्जा से प्रेरित हो पाप नहीं करता, क्या यह आध्यात्मिक त्याग है?

गुरु ने कहा—यह आध्यात्मिक त्याग नहीं है। जिसके अंतःकरण में पाप कर्म छोड़ने की प्रेरणा नहीं है, वह निश्चय नय में ज्ञानी नहीं है। जो दूसरों के भय से पाप–कर्म नहीं करता, वह व्यवहार नय में ज्ञानी है।

जमिणं अण्णमण्णावितिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं सिया?

आयारो ३.५४

२२ मार्च
२००६

संवरयोग

आश्रव और संवर (१)

द्वार खुला रहता है तो मकान में हवा का प्रवेश होता है। हवा भीतर आती है तो उसके साथ धूल भी आ सकती है। मनुष्य प्रवृत्ति करता है, उसके पीछे दो कषाय–राग और द्वेष काम करते हैं। राग–द्वेष की उपस्थिति में कर्मबंधन की अनिवार्यता है।

द्वार खुला है, पवन भी आ सकती है धूल।
युगल कषाय प्रवृत्ति का, यही बन्ध का मूल।।

अध्यात्म पदावली ४४

२३ मार्च
२००६

आश्रव और संवर (२)

मकान के दरवाजों को सघनता से बन्द कर लिया जाए तो भीतर रजकणों का प्रवेश नहीं होता। यह संवर का सिद्धांत है। आश्रव-प्रवृत्ति के निरोध का नाम संवर है। संवर की साधना कर्म-निरोध की साधना है। कर्म का बंधन अविरति और प्रवृत्ति सापेक्ष है। इनके उपरत होने पर सब प्रकार के आवेश सहज रूप में शांत हो जाते हैं।

द्वार बन्द है सघनतम, रज का नहीं प्रवेश।
संवर का सिद्धांत यह, शान्त सकल आवेश।।

अध्यात्म पदावली ४५

२४ मार्च
२००६

आश्रव और संवर (३)

आश्रव संसार में परिभ्रमण का हेतु है और संवर मोक्ष का हेतु है। यह आर्हत मत–जिनशासन की दृष्टि है और यही धर्म का विज्ञान है। इस सिद्धांत की पुष्टि इस पद्य से होती है–

आश्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।।

आश्रव भव का हेतु है, संवर मोक्ष-निदान।
आर्हत मत की दृष्टि यह, यही धर्म-विज्ञान।।

अध्यात्म पदावली ४६

२५ मार्च
२००६

आश्रव और संवर (४)

संवर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पाने का सोपान है। जब तक इस सोपान पर आरोहण नहीं होता, स्वरूपोपलब्धि असंभव है। निर्जरा स्वरूप की प्राप्ति में सहायक तत्त्व है। तपःपूत चैतसिक निर्मलता का नाम निर्जरा है। संवर और निर्जरा—दोनों के योग से ऊर्ध्वारोहण होता है।

संवर शुद्ध स्वरूप को, पाने का सोपान।
सहयोगी है निर्जरा, तपःपूत प्रणिधान।।

अध्यात्म पदावली ४७

२६ मार्च
२००६

मिथ्यात्व

साधना का पहला बाधक तत्त्व है मिथ्यात्व। ज्ञान आवृत्त होने पर मनुष्य जान नहीं पाता। नहीं जानना अज्ञान है। दृष्टि मूढ़ होने पर मनुष्य जानता हुआ भी सम्यक् नहीं जानता, विपरीत जानता है। यह मिथ्यात्व है।

इस अवस्था में इंद्रिय-विषयों के प्रति तीव्रतम आसक्ति रहती है। क्रोध, मान, माया और लोभ प्रबलतम होते हैं।

मिथ्यात्वी मनुष्य अशाश्वत विषयों को शाश्वत मानकर चलता है। उसमें असत्य का आग्रह और धन के प्रति तीव्रतम मूर्च्छा होती है।

२७ मार्च
२००६

अविरति

साधना का दूसरा बाधक तत्त्व है—आकांक्षा। इसी कारण वह पदार्थ में अनुरक्त होता है, उसे प्राप्त करना और भोगना चाहता है। इस अवस्था में मनुष्य की दृष्टि पदार्थ के प्रति आकृष्ट होती है। मूर्च्छा के कारण उसे जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय भी विचलित करता रहता है।

सामाजिक जीवन में पारस्परिक टकरावों और संघर्षों का कारण यह अविरति की मनोदशा ही है।

२८ मार्च
२००६

प्रमाद

साधना का तीसरा बाधक तत्त्व है—प्रमाद। प्रमाद का एक अर्थ है विस्मृति। इससे आत्मा या चैतन्य की विस्मृति होती है। इस अवस्था में मनुष्य का मन इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षित होता है। शांत बने हुए क्रोध, मान, माया और लोभ पुनः उभर आते हैं, जागरूकता समाप्त हो जाती है, करणीय और अकरणीय का बोध धुंधला हो जाता है।

प्रमाद का दूसरा अर्थ है—अनुत्साह। प्रमत्त अवस्था में संयम और क्षमा आदि धर्मों के प्रति मन में अनुत्साह आ जाता है, सत्य के आचरण में शिथिलता आ जाती है; अकर्मण्यता और अलसता की स्थिति बन जाती है। यह आध्यात्मिक विकास का बाधक तत्त्व है।

२९ मार्च
२००६

कषाय

साधना का बाधक चौथा तत्त्व है—कषाय। राग और द्वेष—ये दो मूल दोष हैं। राग माया और लोभ की प्रवृत्ति को तथा द्वेष क्रोध और मान को जन्म देता है। क्रोध, मान, माया और लोभ चित्त को रंगीन बना देते हैं इसलिए इन्हें कषाय कहा जाता है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद—ये कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं। इन तीनों आस्रवों के समाप्त हो जाने पर भी कषाय आश्रव से कर्म परमाणुओं का आगमन होता रहता है।

३० मार्च
२००६

संवरयोग : तपोयोग

अध्यात्म-साधना के लिए चार तत्त्वों को जानना आवश्यक है। एक वह जिससे दुःख का सृजन होता है। दूसरा वह जो दुःख होता है। तीसरा वह जिससे दुःख का निरोध होता है। चौथा वह जिससे दुःख क्षीण होता है। जिससे दुःख का सृजन होता है वह आस्रव है। जो दुःख होता है वह कर्म है। जिससे दुःख का निरोध होता है वह संवर है। जिससे दुःख क्षीण होता है वह तप है। संवरयोग और तपोयोग—ये दो आध्यात्मिक विकास के उपाय हैं। संवर के द्वारा नए दुःख का सृजन रुक जाता है और तप के द्वारा पुराने दुःख क्षीण हो जाते हैं। नए के निरोध और पुराने के क्षय की स्थिति में वह चैतन्य उपलब्ध होता है जो दुःख से अतीत है।

३१ मार्च
२००६

संवरयोग : ध्यान-योग

मन, वाणी और कर्म का स्पन्दन होता है, तब हम बाह्य जगत् के सम्पर्क में रहते हैं और जब ये निष्पन्द हो जाते हैं, तब हम अन्तर्जगत् या अपने स्वभाव में चले जाते हैं। इसी प्रकार संताप, आकर्षण, आकांक्षा और मिथ्या दृष्टिकोण हमें बाह्य की ओर उन्मुख करते हैं। सम्यक् दृष्टिकोण, सहज तृप्ति, सहज शांति और सहज आनंद हमें आत्मोन्मुखता की ओर ले जाते हैं। आत्म-विमुखता ही आश्रव है और आत्मोन्मुखता ही संवर है। साधना का अर्थ ही है—आत्म-विमुखता से हटकर आत्मोन्मुख होना। यम (महाव्रत), नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि उसी की साधन-सामग्री है। ध्यान और समाधि संवर से भिन्न नहीं है। इसीलिए जैन योग में संवर ध्यान योग का सर्वोपरि महत्त्व है।

१ अप्रैल
२००६

संवरयोग

भंते! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है?

संयम से जीव आश्रव का निरोध करता है।

संयम संवर का एक पर्याय है। संयम का अर्थ है—इन्द्रिय और मन का निग्रह।

संयम का अर्थ है—सावद्य प्रवृत्ति का परित्याग।

निग्रह और परित्याग से कर्मागमन का निरोध होता है।

संजमेणं भंते! जीवे किं जणयइ?
संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ।

उत्तरज्झयणाणि २९.२७

२ अप्रैल
२००६

कर्मयोग और ज्ञानयोग

धर्म व्यापार के पांच लक्षण बतलाए गए हैं–

१. स्थान–आसन

२. ऊर्ण–शब्द यानी क्रियाकाल में उच्चार्यमाण सूत्र पाठ

३. अर्थ–शब्द के अभिधेय का निश्चय

४. आलम्बन–मंत्रपदों का आलंबन

५. निर्विकल्प ध्यान–निरालंब ध्यान।

इनमें स्थान और शब्द–ये दो कर्मयोग, अर्थ, आलंबन और निर्विकल्प ध्यान–ये तीन ज्ञानयोग हैं।

ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ, तंतम्मि पंचहा एसो।
दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजागो उ।।

अत्र स्थानादिषु द्वयं स्थानोर्णलक्षणं कर्मयोग एव, स्थानस्य साक्षाद्, ऊर्णस्याप्युच्चार्यमाणस्यैव ग्रहणादुच्चारणांशे क्रियारूपत्वात् तथा त्रयं अर्थालम्बननिरालम्बनलक्षणं ज्ञानयोगः.....अर्थादीनां साक्षाद् ज्ञानरूपत्वात्।

योगविंशिका प्रकरण गा २, वृप ४३

३ अप्रैल
२००६

सम्यक्त्व

सिद्धसेन ने सम्यक्त्व के छह स्थान बतलाए हैं–

१. आत्मा है।

२. आत्मा अविनाशी है, उसका कभी नाश नहीं होता। वह अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा।

३. आत्मा कर्म का कर्ता है।

४. आत्मा कर्मफल का भोक्ता है।

५. आत्मा का मोक्ष होता है–आत्मा का निर्वाण होता है।

६. मोक्ष का उपाय है।

अत्थि अविणासधम्मी करेइ वेएइ अत्थि णिव्वाणं।
अत्थि य मोक्खोवाओ छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं।।

सन्मति प्रकरण ३.५५

४ अप्रैल
२००६

सम्यक् दर्शन

सम्यक् दर्शन का अर्थ है—सत्य की आस्था, सत्य की रुचि। इसका संबंध संघ, गण और सम्प्रदाय से भी होता है। इसके पांच लक्षण है—

१. शम—शांति

२. संवेग—मुमुक्षा

३. निर्वेद—अनासक्ति

४. अनुकंपा—करुणा

५. आस्तिक्य—सत्यनिष्ठा।

शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यानि तल्लक्षणम्।

जैन सिद्धांत दीपिका ५.६

५ अप्रैल
२००६

सम्यक्त्व और चारित्र

सम्यक्त्व और आचरण में पौर्वापर्य भाव का संबंध है। पूर्व है सम्यक्त्व और उत्तर है चारित्र।

सम्यक्त्व के बिना ज्ञान नहीं होता। सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता। सम्यक् चारित्र के बिना बंधन मुक्ति नहीं होती और बंधन मुक्ति के बिना मोक्ष नहीं होता।

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं।।
नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।

उत्तरज्झयणाणि २८.२९,३०

६ अप्रैल
२००६

अहिंसा : प्राणातिपात विरमण (१)

इन्द्रिय, आयु आदि प्राण कहलाते हैं। प्राणातिपात का अर्थ है—प्राणी के प्राणों का अतिपात करना—जीव से प्राणों का विसंयोग करना। केवल जीवों को मारना ही प्राणातिपात नहीं है, उनको किसी प्रकार का कष्ट देना भी प्राणातिपात है। पहले महाव्रत का स्वरूप है—प्राणातिपात विरमण।

विरमण का अर्थ है—ज्ञान और श्रद्धापूर्वक प्राणातिपात न करना—सम्यक्ज्ञान और श्रद्धापूर्वक उससे सर्वथा निवृत्त होना।

पाणाइवाओ नाम इंदिया आउप्पाणादिणो पाणा य जेसिं अत्थि ते पाणिणो भण्णंति, तेसिं पाणाणमइवाओ, तेहिं पाणेहिं सह विसंजोगकरणन्ति वुत्तं भवइ।

दशजिचू पृ १४६

विरमणं नाम सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्तनम्।

दशहावृ पृ १४४

७ अप्रैल
२००६

अहिंसा : प्राणातिपात विरमण (२)

मन, वचन और काया—कृत, कारित और अनुमोदन—इनके योग से हिंसा के नौ विकल्प बनते हैं।

जो दूसरों को मारने के लिए सोचे कि मैं इसे कैसे मारूं—वह मन के द्वारा हिंसा करता है। वह इसे मार डाले—ऐसा सोचना मन के द्वारा हिंसा कराना है। कोई किसी को मार रहा हो—उससे संतुष्ट होना, राजी होना मन के द्वारा हिंसा का अनुमोदन है।

वैसा बोलना जिससे कोई दूसरा मर जाए—वचन से हिंसा करना है। किसी को मारने का आदेश देना—वचन से हिंसा कराना है। अच्छा मारा—यह कहना वचन से हिंसा का अनुमोदन है।

स्वयं किसी को मारे—यह कायिक हिंसा है। हाथ आदि से किसी को मरवाने का संकेत करना—काया से हिंसा कराना है। कोई किसी को मारे—उसकी शारीरिक संकेतों से प्रशंसा करना—काय से हिंसा का अनुमोदन है।

सयं मणसा न चिंतयइ जहा वहयामित्ति, वायाएवि न एवं भणइ—जहा एस वहेज्जउ, कायण सय न परिहणति, अन्नस्सवि णेत्तादीहिं णो तारिसं भावं दरिसयइ जहा परो तस्स माणसियं णाऊण सत्तोवघायं करेइ, वायाएवि संदेसं न देइ तहा तं घाएहित्ति, काएणवि णो हत्थादिणा सण्णेइ जहा एयं मारयाहि, घातंतंपि अण्णं दट्ठूणं मणसा तुट्ठिं न करेइ, वायाएवि पुच्छिओ संतो अणुमइं न देइ, काएणावि परेणा पुच्छिओ संतो हत्थुक्खेवं न करेइ।

दशजिचू पृ १४२,१४३

८ अप्रैल

२००६

अहिंसा अणुव्रत

अहिंसा अणुव्रत–स्थूल प्राणातिपात का स्थूल प्रत्याख्यान। अणुव्रत का स्वीकार करनेवाला गृहस्थ यावज्जीवन किसी जीव के प्राण का अतिपात मनसा, वाचा, कर्मणा न करता, न करवाता।

अणुव्रती गृहस्थ है। वह सब प्रकार की हिंसा से विरत नहीं हो सकता। वह आरंभजा (कृषि–वाणिज्य आदि संबद्ध) और प्रतिरोधजा (आत्मसुरक्षा से संबद्ध) हिंसा का परित्याग नहीं करता। वह केवल संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का परित्याग कर सकता है।

सत्य अणुव्रत

सत्य अणुव्रत—मृषावाद का स्थूल प्रत्याख्यान। इस अणुव्रत को स्वीकार करने वाला गृहस्थ यावज्जीवन असत्य भाषण मनसा, वाचा, कर्मणा न करता, न करवाता।

वह वैवाहिक संबंध, पशु-विक्रय, भूमि-विक्रय, धरोहर और साक्षी जैसे व्यवहारों में असत्य नहीं बोलता, न दूसरों से बुलवाता, मन से, वचन से, काया से।

वह इस सत्य अणुव्रत की सुरक्षा के लिए किसी पर दोषारोपण, षड्यंत्र का आरोप, मर्म का प्रकाशन, गलत पथ-दर्शन और कूटलेख जैसे छलनापूर्ण व्यवहारों से बचता है।

१० अप्रैल
२००६

अचौर्य अणुव्रत

अचौर्य अणुव्रत–अदत्तादान का स्थूल प्रत्याख्यान। इस अणुव्रत को स्वीकार करने वाला गृहस्थ यावज्जीवन अदत्तादान न करता, न करवाता मनसा, वाचा, कर्मणा।

वह आजीवन ताला तोड़ने, जेब कतरने, सेंध मारने, डाका डालने, राहजनी करने और दूसरे के स्वामित्व का अपहरण करने जैसे क्रूर व्यवहार न स्वयं करता, न दूसरों से करवाता, मन से, वचन से, काया से।

वह अचौर्य अणुव्रत की सुरक्षा के लिए चोरी की वस्तु लेने, राजनिषिद्ध वस्तु का आयात-निर्यात करने, असली के बदले नकली माल बेचने, मिलावट करने, कूट तोल-माप करने और रिश्वत लेने जैसे वंचनापूर्ण व्यवहारों से बचता है।

११ अप्रैल
२००६

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

ब्रह्मचर्य अणुव्रत—मैथुन का स्थूल प्रत्याख्यान। इस अणुव्रत को स्वीकार करने वाला गृहस्थ यावज्जीवन अपनी पत्नी के अतिरिक्त शेष सब स्त्रियों के साथ संभोग नहीं करता।

वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत की सुरक्षा के लिए परस्त्री और वेश्यागमन, अप्राकृतिक मैथुन, तीव्र कामुकता और अनमेल विवाह जैसे आचरणों से बचता रहता है।

१२ अप्रैल
२००६

अपरिग्रह अणुव्रत (१)

अपरिग्रह अणुव्रत–परिग्रह का स्थूल प्रत्याख्यान। इस अणुव्रत को स्वीकार करने वाला गृहस्थ यावज्जीवन अपने स्वामित्व में जो परिग्रह है और आगे होगा, उसकी सीमा निम्नांकित प्रकार से करता है, उससे अधिक परिग्रह का आजीवन परित्याग करता है–

१. क्षेत्र, वास्तु (घर) का परिमाण।

२. सोना, चांदी, रत्न आदि का परिमाण।

३. धन, धान्य का परिमाण।

४. पशु, पक्षी आदि का परिमाण।

५. कुप्य परिमाण–तांबा, पीतल आदि धातु तथा अन्य गृह–सामग्री, यान, वाहन आदि का परिमाण।

१३ अप्रैल
२००६

अपरिग्रह अणुव्रत (२)

इस अणुव्रत को स्वीकार करने वाला गृहस्थ संतान की सगाई, विवाह के उपलक्ष में रुपये आदि लेने का ठहराव नहीं करता।

वह अपनी परिशुद्ध (नेट) आय का कम से कम एक प्रतिशत प्रतिवर्ष विसर्जन करता है। यदि उसकी परिशुद्ध (नेट) वार्षिक आय पचास हजार रुपये से अधिक है तो वह कम से कम अपनी आय का तीन प्रतिशत विसर्जन करता है। विसर्जित राशि पर अपना किसी प्रकार का स्वामित्व नहीं रखता।

वह अपरिग्रह अणुव्रत की सुरक्षा के लिए उक्त सीमाओं और नियमों के अतिक्रमण से बचता है।

१४ अप्रैल
२००६

दिग् परिमाण व्रत

अणुव्रतों को स्वीकार करने वाला गृहस्थ ऊंची, नीची, तिरछी दिशाओं में स्वीकृत सीमा से बाहर जाने व हिंसा आदि के आचरण का प्रत्याख्यान करता है।

वह दिग्व्रत की सुरक्षा के लिए निम्न निर्दिष्ट अतिक्रमणों से बचता है–

१. ऊंची, नीची, तिरछी दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना।

२. एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना।

३. दिशा के परिमाण की विस्मृति होना।

वह अपने राष्ट्र से बाहर जाकर राजनीति में हस्तक्षेप और जासूसी नहीं करता। स्थानीय जनता के हितों को कुचलने वाला व्यावसायिक विस्तार नहीं करता और बिना टिकिट या पारपत्र के यात्रा नहीं करता।

१५ अप्रैल
२००६

भोगोपभोग परिमाण व्रत

उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत ढाई हजार वर्ष पहले संयम की साधना का व्रत था। वर्तमान में यह समस्या का समाधान भी है। आबादी अधिक और उपभोग–सामग्री कम। कुछ शक्तिशाली व्यक्ति और राष्ट्र उपभोग–सामग्री का अधिक उपयोग करते हैं। असंख्य लोग उससे वंचित रह जाते हैं।

आत्मशोधन की दृष्टि से इसका आध्यात्मिक मूल्य है। सृष्टि संतुलन की दृष्टि से इस व्रत का सामाजिक मूल्य भी है।

१६ अप्रैल
२००६

अनर्थदंड विरमणव्रत

अणुव्रतों को स्वीकार करने वाला गृहस्थ अनर्थदंड का प्रत्याख्यान करता है। इसके चार प्रकार हैं—

१. अपध्यानाचरित—आर्त्त, रौद्र ध्यान की वृद्धि करने वाला आचरण।

२. प्रमादाचरित—प्रमाद की वृद्धि करने वाला आचरण।

३. हिंस्रप्रदान—हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र देना।

४. पापकर्मोपदेश—हत्या, चोरी, डाका, द्यूत आदि का प्रशिक्षण देना। इस अनर्थदंड विरमण व्रत की सुरक्षा के लिए वह निम्नलिखित अतिक्रमणों से बचता है—

१. कन्दर्प—कामोद्दीपक क्रियाएं।

२. कौतकुच्य—कायिक चपलता।

३. मौखर्य—वाचालता।

४. संयुक्ताधिकरण—अस्त्र-शस्त्रों की सज्जा।

५. उपभोग परिभोगातिरेक—उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का आवश्यकता के उपरांत संग्रह।

१७ अप्रैल
२००६

सामायिक व्रत

सामायिक का अर्थ है सावद्य योग से विरत होना तथा निरवद्य योग में प्रवृत्त होना। इसके पांच अतिचार हैं–

१. मन दुष्प्रणिधान—मन की असत् प्रवृत्ति।

२. वचन दुष्प्रणिधान—वचन की असत् प्रवृत्ति।

३. काय दुष्प्रणिधान—काय की असत् प्रवृत्ति।

४. सामायिक की विस्मृति।

५. नियत समय से पहले सामायिक की समाप्ति।

१८ अप्रैल
२००६

देशावकाशिक व्रत

अणुव्रतों को स्वीकार करने वाला गृहस्थ छहों दिशाओं में जाने का जो परिमाण करता है, उसकी सीमा का प्रतिदिन या अल्पकालिक संकोच करता है।

तात्पर्य की दृष्टि से इस व्रत का क्षेत्र व्यापक है। जैसे दिशाओं में जाने का सीमाकरण किया जाता है वैसे ही अणुव्रतों में जो परिमाण किया है उसका भी पुनः सीमाकरण किया जाता है।

१६ अप्रैल
२००६

पौषधोपवास व्रत

अणुव्रतों को स्वीकार करने वाला गृहस्थ प्रतिवर्ष कम से कम एक पौषध करता है। दिन-रात उपवासपूर्वक समता की विशेष साधना करता है। वह पौषध व्रत की सुरक्षा के लिए निम्न-निर्दिष्ट अतिक्रमणों से बचता है—

१. स्थान, वस्त्र, बिछौने आदि को बिना देखे या असावधानी से काम में लेना।

२. स्थान, वस्त्र, बिछौने आदि को रात्रि के समय बिना पूंजे या असावधानी से पूंजकर काम में लेना।

३. भूमि को दिन में बिना देखे या असावधानी से मल-मूत्र का विसर्जन करना।

४. भूमि को रात्रि में बिना प्रमार्जन किए या असावधानी से मल-मूत्र का विसर्जन करना।

५. पौषधोपवास व्रत का विधिपूर्वक पालन न करना।

२० अप्रैल
२००६

यथासंविभाग व्रत

अणुव्रतों को स्वीकार करने वाला गृहस्थ अपने प्रासुक और एषणीय भोजन, वस्त्र आदि का (यथासंभव) संविभाग देकर संयमी व्यक्तियों के संयम जीवन में सहयोगी बनता है।

वह यथासंविभाग व्रत की अनुपालना के लिए निम्न निर्दिष्ट अतिक्रमणों से बचता है–

१. एषणीय वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रखना।

२. एषणीय वस्तु को सचित्त वस्तु से ढकना।

३. काल का अतिक्रमण करना।

४. अपनी वस्तु को दूसरों की बताना।

५. मत्सर भाव से दान देना।

६. अप्रासुक और अनेषणीय वस्तु का दान देना, जैसे–साधु के निमित्त बनाकर, खरीदकर, समय को आगे-पीछे कर–आदि तरीकों से दान देना।

२१ अप्रैल
२००६

अहिंसा महाव्रत

अहिंसा महाव्रत में प्राणातिपात का विरमण किया जाता है।

अहिंसा महाव्रत की आराधना के लिए उपस्थित मुमुक्षु सर्व प्राणातिपात से विरति करता है।

वह सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी हैं उनके प्राणों का अतिपात नहीं करता, दूसरों से अतिपात नहीं करवाता और अतिपात करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता।

पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं।

सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि—से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा।

दसवेआलियं ४.११

२२ अप्रैल

२००६

सत्य महाव्रत

सत्य महाव्रत में मृषावाद का विरमण किया जाता है।

सत्य महाव्रत की आराधना के लिए उपस्थित मुमुक्षु सर्व मृषावाद से विरति करता है।

वह क्रोध से या लोभ से, भय से या हंसी से, असत्य नहीं बोलता, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाता और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता।

दोच्चे भंते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं।

सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि—से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा।

दसवेआलियं ४.१२

२३ अप्रैल
२००६

अचौर्य महाव्रत

अचौर्य महाव्रत में अदत्तादान का विरमण किया जाता है।

अचौर्य महाव्रत की आराधना के लिए उपस्थित मुमुक्षु सर्व अदत्तादान से विरति करता है।

वह गांव में, नगर में या अरण्य में कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी अदत्त-वस्तु का स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरों से अदत्त-वस्तु का ग्रहण नहीं करवाता और अदत्त-वस्तु ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता।

तच्चे भंते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं।

सव्वं भंते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे का रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा।

दसवेआलियं ४.१३

२४ अप्रैल

२००६

ब्रह्मचर्य महाव्रत

ब्रह्मचर्य महाव्रत में मैथुन का विरमण किया जाता है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की आराधना के लिए उपस्थित मुमुक्षु सर्व मैथुन से विरति करता है।

वह देव संबंधी, मनुष्य संबंधी अथवा तिर्यंच संबंधी मैथुन का सेवन नहीं करता, दूसरों से मैथुन सेवन नहीं करवाता और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता।

चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं।

सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि–से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा।

दसवेआलियं ४.१४

२५ अप्रैल
२००६

अपरिग्रह महाव्रत

अपरिग्रह महाव्रत में परिग्रह का विरमण किया जाता है।

अपरिग्रह महाव्रत की आराधना के लिए उपस्थित मुमुक्षु सर्व परिग्रह से विरति करता है।

वह गांव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी, अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त– किसी भी परिग्रह का ग्रहण स्वयं नहीं करता, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं करवाता और परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता।

पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं।

सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा परिग्गहं परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा।

दसवेआलियं ४.१५

२६ अप्रैल
२००६

तपयोग

तपोयोग : आहारशुद्धि

तपोयोग की साधना का प्रथम सूत्र है– आहारशुद्धि। अधिक आहार से मल संचित होता है। जिसके शरीर में मल संचित होता है उसका नाड़ी–संस्थान शुद्ध नहीं रहता और मन भी निर्मल नहीं रहता। ज्ञान और क्रिया–इन दोनों की अभिव्यक्ति का माध्यम नाड़ी–संस्थान है। मल के संचित होने पर ज्ञान और क्रिया–दोनों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। नाड़ी–संस्थान के कार्य में कोई अवरोध न हो, मन की निर्मलता बनी रहे, अपान वायु दूषित न हो–इन तथ्यों को ध्यान में रखकर साधक अपने आहार का चुनाव करता है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर उपवास, मित भोजन और रस–परित्याग (गरिष्ठ भोजन का वर्जन) सुझाए गए हैं।

२७ अप्रैल
२००६

तपोयोग : कायक्लेश

तपोयोग की साधना का दूसरा सूत्र है—आसन या कायक्लेश। शरीरगत चैतन्य केन्द्रों को जाग्रत करने के लिए आसनों का अत्यन्त महत्त्व है। आसन करने वालों के लिए चैतन्य केन्द्रों का ज्ञान होना जरूरी है। उस ज्ञान के आधार पर ही अनुकूल आसनों का चयन किया जा सकता है। ध्यान के लिए भी विशेष आसनों का चयन किया जाता है।

कायक्लेश का प्रयोजन शरीर को सताना नहीं, किंतु साधना के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शरीर की क्षमता को विकसित करना है।

२८ अप्रैल
२००६

आसन (१)

'संयमपूर्वक चलो, संयमपूर्वक खड़े रहो, संयमपूर्वक बैठो, संयमपूर्वक सोओ'—यह निर्देश भावधारा की शुद्धि के लिए दिया गया है। शरीर की मुद्रा और भाव का गहरा संबंध है। शरीर जिस संस्थान में होता है, जिस मुद्रा में होता है, वैसा ही भाव बन जाता है।

आसन के दो प्रयोजन हैं, उनके आधार पर आसन के दो प्रकार होते हैं—

१. ध्यानासन—ध्यान के लिए उपयुक्त आसन।

२. आरोग्यवर्धक आसन—स्वास्थ्य अथवा शरीर सिद्धि के लिए किए जाने वाले आसन।

आसन साधना का एक अपरिहार्य अंग है। आचार्य कुन्दकुन्द का अभिमत है कि जो व्यक्ति आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को नहीं जानता, वह जिनशासन को नहीं जानता। आसन-विजय का अर्थ है—एक आसन में घंटों तक बैठने का अभ्यास कर लेना।

२६ अप्रैल
२००६

आसन (२)

आचार्य शुभचन्द्र ने पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन और कायोत्सर्ग को ध्यानासन के रूप में स्वीकार किया है।

उन्होंने ध्यान के लिए आसन की अनिवार्यता नहीं मानी। उनका अभिमत है कि जिस आसन में बैठकर मन निश्चल किया जा सके, वही आसन उपयोगी है।

वर्तमान काल में शरीर का वह वीर्य नहीं है जो अतीत में था। इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यंकासन, इन दो आसनों का ही प्रयोग करना चाहिए।

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः।।
येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्।।
कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम्।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति।।

ज्ञानार्णव २८.१०-१२

३० अप्रैल
२००६

आसन (३)

योगशास्त्र में ध्यान की सिद्धि के लिए विशिष्ट आसनों का निर्देश दिया गया है—

१. पर्यंकासन
२. वीरासन
३. वज्रासन
४. पद्मासन
५. भद्रासन
६. दण्डासन
७. उत्कटिकासन
८. गोदोहिकासन
९. कायोत्सर्गासन

पर्यंकवीरवज्राब्जभद्रदंडासनानि च।
उत्कटिका-गोदोहिका-कायोत्सर्गस्तथासनम्॥

योगशास्त्र ४.१२४

१ मई
२००६

ऊर्ध्वस्थान

खड़े होकर किए जाने वाले आसन–

१. साधारण–स्तम्भ या भित्ति का सहारा लेकर खड़े होना।

२. सविचार–पूर्वावस्थित स्थान से दूसरे स्थान में जाकर प्रहर, दिवस आदि तक खड़े रहना।

३. सनिरुद्ध–स्व–स्थान में खड़े रहना।

४. व्युत्सर्ग–कायोत्सर्ग करना।

५. समपाद–पैरों को सटाकर खड़े रहना।

६. एकपाद–एक पैर से खड़े रहना।

७. गृद्धोड्डीन–आकाश में उड़ते समय गीध जैसे अपने पंख फैलाता है, वैसे अपनी बाहों को फैला कर खड़े रहना।

२ मई
२००६

निषीदन-स्थान (१)

बैठकर किए जाने वाले आसन–

१. मकरमुख–मगर के मुंह के समान पैरों की आकृति बनाकर बैठना।

२. हस्तिशुंडि–हाथी की सूंड की भांति एक पैर को फैलाकर बैठना।

३. गो-निषद्या–दोनों जंघाओं को सिकोड़कर गाय की तरह बैठना।

४. वीरासन–दोनों जंघाओं को अन्तर से फैला कर बैठना।

३ मई
२००६

निषीदन-स्थान (२)

१. उत्कुटुक—पुट्ठों को भूमि से छुए बिना पैरों के बल पर बैठना।

२. गोदोहिका—गाय की तरह बैठना या गाय दुहने की मुद्रा में बैठना।

३. समपादपुता—दोनों पैरों और पुट्ठों को छुआ कर बैठना।

४. पर्यंक—पद्मासन।

५. अर्द्धपर्यंक—अर्द्ध पद्मासन।

४ मई
२००६

शयन-स्थान

लेटकर किए जाने वाले आसन–

१. ऊर्ध्व शयन–ऊंचा होकर सोना।

२. लगंड शयन–वक्र काष्ठ की भांति एड़ियों और सिर को भूमि से सटा कर शेष शरीर को ऊपर उठा कर सोना अथवा पीठ को भूमि से सटा कर शेष शरीर को ऊपर उठा कर सोना।

३. उत्तान शयन–सीधा लेटना।

४. अवमस्तक शयन–औंधा लेटना।

५. एकपार्श्वशयन–दाईं या बाईं करवट लेटना।

६. मृतक शयन–शवासन।

५ मई
२००६

प्राणायाम (१)

जैन योग में प्राणायाम का महत्त्व सापेक्ष है। प्राचीन जैन योग में संभवतः रेचक, पूरक और कुंभक की व्यवस्था नहीं है। इसका आधार महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में खोजा जा सकता है। योगदर्शन में प्राणायाम की परिभाषा है प्राण का प्रच्छर्दन–रेचन और विधारण—बाह्य कुंभक।

उत्तरकालीन जैन योग में रेचक, पूरक और कुंभक का उल्लेख मिलता है।

प्राणायामो गतिच्छेदः, श्वासप्रश्वासयोर्मतः।
रेचकः पूरकश्चैव, कुम्भकश्चेति स त्रिधा।।

योगशास्त्र ५.४

६ मई
२००६

प्राणायाम (२)

प्राणायाम में जो प्राण शब्द का प्रयोग है उसका अर्थ *सामान्यतया श्वास किया जाता है। यह विमर्शनीय बिन्दु है।* प्राण का मूल अर्थ जीवनीशक्ति है। श्वास तनुपट से नीचे नहीं जाता। प्राण का संचार पूरे शरीर में हो सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्राणायाम का अर्थ है—श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना। महर्षि पतंजलि ने रेचक और पूरक का उल्लेख नहीं किया है। जैन योग में भी श्वाससंयम और मंदश्वास का विधान रहा है। संभवतः रेचक, पूरक और कुंभक—प्राणायाम के इन तीन प्रकारों का हठयोग में समाहार किया गया है।

प्राणायामः प्राणायामः श्वासप्रश्वासरोधनम्।

अभिधान चिन्तामणि १.८३

७ मई

२००६

प्राणायाम (३)

प्राणायाम का महत्त्व सापेक्ष है। इसलिए उसकी उपयोगिता पर भी सापेक्ष दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र ने कुछ योगाचार्यों के मतानुसार लिखा है कि प्राणायाम के बिना मन और श्वास को नहीं जीता जा सकता।

प्राणायाम के विषय में आचार्य हेमचन्द्र का अपना मत यह है कि प्राणायाम से क्लान्त बना हुआ मन स्वस्थ नहीं हो सकता। उससे श्रम होता है और श्रान्त मन चंचल बन जाता है।

प्राणायामस्ततः कैश्चिद्, आश्रितो ध्यानसिद्धये।
शक्यो नेतरथा कर्त्तुं मनः-पवन निर्जयः।।
तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं, प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीड़ा, तस्यां स्यात् चित्तविप्लवः।।

योगशास्त्र ६.४

८ मई
२००६

प्राणायाम (४)

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायाम के सात भेदों का उल्लेख किया है। उनमें पूरक, रेचक और कुंभक—ये तीन भेद हठयोग में प्रसिद्ध हैं। महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम के दो भेदों का उल्लेख किया है–

१. प्राण का प्रच्छर्दन (रेचन)

२. प्राण का विधारण (प्राण को बाहर रोकना)

इसमें पूरक और अन्तःकुम्भक का उल्लेख नहीं है।

जैन योग में पूरक का उल्लेख संभवतः हठयोग का प्रभाव है।

प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर–प्राणायाम के इन चार प्रकारों का मूल स्रोत अन्वेषणीय है।

प्रच्छर्द्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

पातञ्जलयोगदर्शनम् १.३४

प्रत्याहारस्तथा शान्तः, उत्तरश्चाधरस्तथा।
एभिर्भेदैश्चतुर्भिस्तु, सप्तधा कीर्त्यते परैः।।

योगशास्त्र ५.५

६ मई
२००६

प्राणायाम (५)

रेचक, पूरक और कुंभक–तीनों का समन्वय है प्राणायाम। इनके फल पृथक्–पृथक् बतलाए गए हैं। रेचक के दो फल निर्दिष्ट हैं–

१. उदरव्याधि का क्षय

२. कफव्याधि का क्षय

पूरक के भी दो फल निर्दिष्ट हैं–

१. शरीर की पुष्टि

२. सर्व व्याधियों का क्षय

कुंभक के द्वारा–

१. हृदयकमल विकसित होता है।

२. आंतरिक ग्रंथियों का भेदन होता है।

३. बल की वृद्धि होती है।

४. वायु की स्थिरता होती है।

रेचनादुदरव्याधेः, कफस्य च परिक्षयः।
पुष्टिः पूरकयोगेन, व्याधिघातश्च जायते॥
विकसत्याशु हृत्पद्मं ग्रंथिरन्तर्विभिद्यते।
बलस्थैर्यविवृद्धश्च, कुम्भकाद् भवति स्फुटम्॥

योगशास्त्र ५.१०,११

१० मई
२००६

रेचक

कोष्ठ (उदर) स्थित वायु को नासिका, ब्रह्मरन्ध्र और मुख के द्वारा अति प्रयत्नपूर्वक बाहर निकालना रेचक प्राणायाम है।

बाहर की वायु को खींचकर कोष्ठ (उदर) तक ले जाना पूरक प्राणायाम है। उसे नाभिकमल में स्थित करना कुंभक प्राणायाम है।

यत् कोष्ठादतियत्नेन, नासाब्रह्म-पुराननैः।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः॥
समाकृष्य यदापानात्, पूरणं स तु पूरकः।
नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य, रोधनं स तु कुंभकः॥

योगशास्त्र ५.६,७

११ मई
२००६

प्राणविजय का फल

रोग के अनेक कारण हैं। उनमें एक कारण है प्राण का असंतुलन। जिस अवयव में जितनी मात्रा में प्राण का प्रवाह होना चाहिए उससे न्यून अथवा अधिक मात्रा में होता है तो वह रोग का कारण बनता है। आरोग्य का मुख्य हेतु है प्राण का संतुलन।

शरीर के जिस भाग में पीड़ा देने वाला रोग हो, उस भाग में प्राण का संचार करें। फिर उसे वहां रोकें तो पीड़ा का शमन होता है और रोग भी नष्ट होता है।

यत्र यत्र भवेत् स्थाने, जन्तो रोगः प्रपीडकः।
तच्छान्त्यै धारयेत् तत्र, प्राणादिमरुतः सदा।।

योगशास्त्र ५.२५

१२ मई
२००६

प्राणायाम : मुक्ति की साधना में अनुपयोगी

आचार्य हेमचन्द्र ने मुक्ति के संदर्भ में चिंतन किया। उसके लिए उन्हें प्राणायाम सहायक नहीं लगा। मुक्ति की साधना के लिए शान्त चित्त की अपेक्षा है। प्राणायाम से चित्त श्रान्त और क्लान्त होता है। इसलिए वह मुक्ति की साधना में बाधक बन जाता है।

पूरणे कुम्भने चैव, रेचने च परिश्रमः।
चित्त-संक्लेश करणात्, मुक्तेः प्रत्यूहकारणम्॥

योगशास्त्र ६.५

१३ मई
२००६

मन और पवन

जहां मन है वहां पवन (श्वास) है। दोनों की क्रिया एक साथ होती है। पवन का निरोध होने पर मन की गति का निरोध हो जाता है। मन की गति का निरोध होने पर पवन का निरोध हो जाता है।

पवन की प्रवृत्ति तो मन की प्रवृत्ति, मन की प्रवृत्ति तो पवन की प्रवृत्ति। ध्यान का अभ्यास करने वाले साधक के लिए जरूरी है मन और पवन पर नियंत्रण।

मनो यत्र मरुत् तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः।
अतस्तुल्यक्रियावेतौ, संयुक्तौ क्षीरनीरवत्॥
एकस्य नाशेऽन्यस्य स्यान्नाशो, वृत्तौ च वर्तनम्।
ध्वस्तयोरिन्द्रियमतिध्वंसान्मोक्षश्च जायते॥

योगशास्त्र ५.२,३

१४ मई
२००६

तपोयोग : इन्द्रिय संयम

तपोयोग की साधना का तीसरा सूत्र है– इन्द्रिय संयम। इसकी साधना तीन प्रकार से की जा सकती है–

१. शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श–इन इन्द्रिय–विषयों का परित्याग करें।

२. इन इन्द्रिय–विषयों का उपयोग करते हुए इनमें राग–द्वेष नहीं रखें। केवल शब्द सुनें किन्तु उसमें राग–द्वेष न करें। इससे श्रोत्रेन्द्रिय का संयम सधता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के संयम भी साधे जा सकते हैं।

३. इन्द्रिय–विषयों के साथ जुड़ने वाले मन को भीतर ले जाएं जिससे बाहर के विषयों का आकर्षण सहज ही समाप्त हो जाए।

१५ मई
२००६

प्रतिसंलीनता (१)

मुक्ति की साधना के लिए मन को निश्चल करना आवश्यक है। इन्द्रियां अपने विषयों में प्रवृत्त रहती हैं और मन का उसमें काफी योग होता है। इस स्थिति में मन चंचल रहता है। मन को निश्चल बनाने के लिए आवश्यक है इन्द्रियों की विषयों से प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार)। इन्द्रियों की विषयों से समाहृति होती है, उस अवस्था में मन निश्चल हो जाता है।

इन्द्रियैः सममाकृष्य, विषयेभ्यः प्रशान्तधीः।
धर्मध्यानकृते तस्मात् मनः कुर्वीत निश्चलम्।।

योगशास्त्र ६.६

१६ मई
२००६

प्रतिसंलीनता (२)

प्रतिसंलीनता का एक प्रकार है एकान्तवास। ध्यान साधना के लिए शब्द और कोलाहल से दूर रहना आवश्यक है। मन की एक अवस्था है चिंतन। उसके लिए भी एकान्त स्थान की अपेक्षा रहती है। ध्यान उससे भी अधिक सूक्ष्मता का प्रयोग है।

एकान्तवास में पशुजगत्, प्राणिजगत् और मनुष्य समुदाय से आने वाले स्थान-विरोधी प्रकंपनों से बचा जा सकता है।

१७ मई
२००६

प्रतिसंलीनता (३)

ध्यान की बहुत बड़ी बाधा है चंचलता। चंचलता का हेतु है राग और द्वेष। इस बाधा के निवारण का उपाय है प्रतिसंलीनता।

प्रतिसंलीनता के चार प्रकार हैं–

१. इन्द्रिय–प्रतिसंलीनता

२. कषाय–प्रतिसंलीनता

३. योग–प्रतिसंलीनता

४. विविक्त–शयनासन सेवन

पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–इंदियपडिसंलीणया कसायपडिसंलीणया जोगपडिसंलीणया विवित्त-सयणासणसेवणया।

ओवाइयं ३७

१८ मई
२००६

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता

इन्द्रिय का काम है विषय का ग्रहण। विषय-ग्रहण के पश्चात् दो क्रियाएं होती हैं-

१. प्रिय विषय के प्रति राग

२. अप्रिय विषय के प्रति द्वेष

प्रतिसंलीनता के दो कार्य हैं-

१. निरोध

२. निग्रह

निरोध का तात्पर्य है इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण नहीं करना। निग्रह का तात्पर्य है इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों में राग और द्वेष नहीं करना।

इंदियपडिसंलीणया पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-सोइंदिय-विसयप्पयारनिरोहो वा सोइंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोस-निग्गहो वा, चक्खिंदियविसयप्पयारनिरोहो वा चक्खिंदिय-विसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोससनिग्गहो वा, घाणिंदियविसय-प्पयारनिरोहो वा घाणिंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, जिब्भिंदियविसयप्पयारनिरोहो वा जिब्भिंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, फासिंदियविसयप्पयारनिरोहो वा फासिंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा।

ओवाइयं ३७

१६ मई

२००६

कषाय-प्रतिसंलीनता (१)

कषाय के चार प्रकार हैं—१. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ। क्रोध की दो अवस्थाएं होती हैं—

१. अनुदित अवस्था

२. उदित अवस्था

साधनाशील व्यक्ति संकल्प के द्वारा क्रोध के उदय का निरोध कर सकता है और उदय प्राप्त क्रोध को विफल कर सकता है। ये दोनों कार्य क्रोध प्रतिसंलीनता के द्वारा किए जा सकते हैं।

कसायपडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा— कोहस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं।

ओवाइयं ३७

२० मई
२००६

कषाय-प्रतिसंलीनता (२)

मान की दो अवस्थाएं होती हैं–

१. अनुदित अवस्था

२. उदित अवस्था

साधनाशील व्यक्ति संकल्प के द्वारा मान के उदय का निरोध कर सकता है और उदयप्राप्त मान को विफल कर सकता है। ये दोनों कार्य मान प्रतिसंलीनता के द्वारा किए जा सकते हैं।

माणुस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा माणस्स विफलीकरणं।

ओवाइयं ३७

२१ मई
२००६

कषाय–प्रतिसंलीनता (३)

माया की दो अवस्थाएं होती हैं–

१. अनुदित अवस्था

२. उदित अवस्था

साधनाशील व्यक्ति संकल्प के द्वारा माया के उदय का निरोध कर सकता है और उदयप्राप्त माया को विफल कर सकता है। ये दोनों कार्य माया प्रतिसंलीनता के द्वारा किए जा सकते हैं।

मायाउदयनिरोहो वा उदयपत्ताए वा मायाए विफलीकरणं।

ओवाइयं ३७

२२ मई
२००६

कषाय–प्रतिसंलीनता (४)

लोभ की दो अवस्थाएं होती हैं–

१. अनुदित अवस्था

२. उदित अवस्था

साधनाशील व्यक्ति संकल्प के द्वारा लोभ के उदय का निरोध कर सकता है और उदयप्राप्त लोभ को विफल कर सकता है। ये दोनों कार्य लोभ प्रतिसंलीनता के द्वारा किए जा सकते हैं।

लोभस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा लोभस्स विफलीकरणं।

ओवाइयं ३७

२३ मई
२००६

योग–प्रतिसंलीनता (१)

योग–प्रतिसंलीनता के तीन प्रकार हैं–

१. मनोयोग प्रतिसंलीनता

२. वचनयोग प्रतिसंलीनता

३. काययोग प्रतिसंलीनता

इन तीनों की दो–दो अवस्थाएं होती हैं–

१. (क) अकुशल मन (ख) कुशल मन

२. (क) अकुशल वचन (ख) कुशल वचन

३. (क) अकुशल काय (ख) कुशल काय

जोगपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा– मणजोग-पडिसंलीणता वइजोगपडिसंलीणया कायजोगपडिसंलीणया।

ओवाइयं ३७

२४ मई
२००६

योग-प्रतिसंलीनता (२)

ध्यान की प्रारंभिक अवस्था में अकुशल योग का निरोध और कुशल योग की उदीरणा का क्रम चलता रहता है, ये दोनों प्रतिसंलीनता के अंग हैं।

मनयोग प्रतिसंलीनता के दो प्रकार हैं–

१. अकुशलमन निरोध

२. कुशलमन उदीरणा

वचनयोग प्रतिसंलीनता के दो प्रकार हैं–

१. अकुशलवचन निरोध

२. कुशलवचन उदीरणा

शरीर और इन्द्रियों को कछुए की भांति गुप्त कर रहना।

मणजोगपडिसंलीणया–अकुसलमणणिरोहो वा, कुसल मणउदीरणं वा।

वइजोगपडिसंलीणया–अकुसलवइणिरोहो वा, कुसलवइ-उदीरणं वा।

कायजोगपडिसंलीणया–जण्णं सुसमाहियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिंदिए सव्वगायपडिसंलीणे चिट्ठइ।

ओवाइयं ३७

२५ मई
२००६

कषाय-विजय (१)

भंते! क्रोध-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

क्रोध-विजय से जीव क्षमा को उत्पन्न करता है। वह क्रोध-वेदनीय कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

कोहविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

कोहविजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ॥

उत्तरज्झयणाणि २९.६८

२६ मई
२००६

कषाय-विजय (२)

भंते! मान-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

मान-विजय से जीव मृदुता को उत्पन्न करता है। वह मान-वेदनीय कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

माणविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।

उत्तरज्झयणाणि २९.६९

२७ मई
२००६

कषाय-विजय (३)

भंते! माया-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

माया-विजय से जीव ऋजुता को उत्पन्न करता है। वह माया-वेदनीय कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

मायाविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।

उत्तरज्झयणाणि २९.७०

२८ मई
२००६

कषाय-विजय (४)

भंते! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

लोभ-विजय से जीव संतोष को उत्पन्न करता है। वह लोभ-वेदनीय कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

लोभविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

लोभविजएणं संतोषं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।

उत्तरज्झयणाणि २९.७१

२९ मई
२००६

वीतराग (१)

भंते! कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है?

कषाय-प्रत्याख्यान से जीव वीतराग भाव को प्राप्त करता है। वीतराग भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम हो जाता है।

कसायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयराग-भावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ।।

उत्तरज्झयणाणि २९.३७

३० मई
२००६

वीतराग (२)

भंते! वीतरागता से जीव क्या प्राप्त करता है?

वीतरागता से जीव स्नेह के अनुबंधनों और तृष्णा के अनुबंधनों का विच्छेद करता है तथा मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध से विरक्त हो जाता है।

वीयरागयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ मणुन्नेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ॥

उत्तरज्झयणाणि २०.४६

३१ मई

२००६

वीतराग चेतना

इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते हैं। वे वीतराग के लिए कभी किंचित् भी दुःखदायी नहीं होते।

काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं वि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि॥
न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

उत्तरज्झयणाणि ३२.१००,१०१

१ जून
२००६

क्रोधविजय और आभामंडल

वासुपूज्य प्रभो! तुम्हारी इन्द्र से भी अधिक शोभा है। तुम कभी कुपित नहीं होते। इसलिए तुम्हारी वाणी में मिश्री-मिश्रित दूध जैसी मिठास हो गयी।

गजकुंभ का दलन करने वाले तथा सिंह को मारने वाले योद्धा के लिए भी अपनी आत्मा को वश में करना कठिन है। तुम्हारी इस वाणी को सुनकर काफी मनुष्य जाग उठे।

इन्द्र थकी अधिका ओपै, करुणागर कदेय नहीं कोपै।
वर साकर दूध जिसी वाणी, प्रभु वासुपूज्य भजलै प्राणी।
गज कुम्भ दलै मृगराज हणी, पिण दोहिली निज आतम दमणी।
इम सुण बहु जीव चेत्या जाणी, प्रभु वासुपूज्य भजलै प्राणी।।

चौबीसी १२.४,६

२ जून
२००६

तपोयोग : स्वाध्याय

आध्यात्मिक विकास के दो सोपान है—स्वाध्याय और ध्यान।

साधना में स्वाध्याय के तीन सूत्र उपयोगी हैं—

१. आगम का अध्ययन

२. जप

३. भावना

जरा से जर्जर शरीर के लिए जैसे रसायन उपयोगी होता है वैसे ही धर्म्य ध्यान को पुष्ट करने के लिए मैत्री आदि भावना को रसायन की कोटि में स्थापित किया जा सकता है। इसलिए ध्याता को मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य—इनका बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्।।

योगशास्त्र ४.११७

३ जून
२००६

स्वाध्याय का फल

भंते! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है?

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

साधना के क्षेत्र में जितना महत्त्व ध्यान का है उतना ही महत्त्व स्वाध्याय का है। इसीलिए कहा जाता है–

सज्झाय समं तवोकम्मं।

न भूयं न भविस्सइ।

स्वाध्याय के द्वारा द्रव्य के नए-नए पर्यायों का उद्घाटन होता रहता है।

सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

उत्तरज्झयणाणि २६.१६

४ जून
२००६

अनित्य अनुप्रेक्षा

जितने संयोग हैं, उनका अन्त वियोग में होता है—संयोगाः विप्रयोगाऽन्ताः—फिर भी चिर सम्पर्क के कारण मनुष्य संयोग को शाश्वत मान बैठता है और जब उसका वियोग होता है, तब वह उसके लिए आकुल हो उठता है। यह आकुलता, दुःख और ताप वस्तु के वियोग से नहीं होता किन्तु उसके संयोग के प्रति शाश्वत की भावना होने से होता है।

अनित्य अनुप्रेक्षा का प्रयोजन चित्त में (संयोग और वस्तु की नश्वरता के प्रति) अशाश्वतता की भावना को पुष्ट बनाए रखता है। इस अनुप्रेक्षा का अभ्यासी साधक वियोग को नहीं रोक सकता किन्तु उससे प्रवाहित होने वाली दुःख की धारा को रोक सकता है।

५ जून
२००६

अशरण अनुप्रेक्षा

मनुष्य अपूर्ण है। वह अपूर्ण है, इसलिए बाह्य वस्तुओं के द्वारा पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। उसे दुःख, अशांति, दरिद्रता आदि अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वह उस संघर्ष में विजयी होने के लिए दूसरों का सहारा चाहता है, त्राण और शरण की अपेक्षा रखता है। सामाजिक जीवन में सहारा, त्राण और शरण मिलती भी है किन्तु यह तात्कालिक सत्य है। त्रैकालिक सत्य यह है कि अपने पुरुषार्थ पर आदमी निश्चित रूप से भरोसा कर सकता है, इसलिए वस्तुतः सहारा, त्राण या शरण अपने पुरुषार्थ में ही है; अन्यत्र नहीं है। इस अंतिम सचाई के आधार पर स्वयं में स्वयं का त्राण खोजना और दूसरों के त्राणदान में ऐकान्तिक व आत्यन्तिक कल्पना न करना—अशरण अनुप्रेक्षा है। इस अनुप्रेक्षा से भावित मनुष्य का कर्तृत्व प्रबल हो उठता है और दूसरों के द्वारा विश्वासघात होने पर उसका धैर्य विचलित नहीं होता।

६ जून
२००६

संसार अनुप्रेक्षा

इस दुनिया में सब प्राणी समान नहीं हैं और सब मनुष्य भी समान नहीं हैं। बुद्धि, वैभव और क्षमता भिन्न-भिन्न हैं। जिसके पास ये साधन होते हैं, उसका मन गर्व से भर जाता है और जिसके पास ये नहीं होते हैं, उनमें हीन भावना पनपती है। इस दोहरी बीमारी की चिकित्सा संसार अनुप्रेक्षा है।

यह संसार परिवर्तनशील है। इसमें कोई भी व्यक्ति निरन्तर एक स्थिति में नहीं रहता। एक जन्म में एक व्यक्ति अनेक स्थितियों का अनुभव कर लेता है। अनेक जन्मों में तो वह न जाने क्या-क्या अनुभव करता है। जो व्यक्ति इस परिवर्तन की भावना से भावित होता है, उसके मन में गर्व या हीन भावना की बीमारी पैदा नहीं होती।

७ जून
२००६

एकत्व अनुप्रेक्षा

आदमी अपने बाहरी वातावरण में अकेला नहीं है। वह सामुदायिक जीवन जीता है और सबके बीच में रहता है किन्तु वह सब बातों में सामुदायिक नहीं है। सामुदायिक जीवन के प्रवाह से आने वाली समस्याओं से अपने मन को खाली वही रख सकता है, जिसे व्यावहारिक संबंधों के बीच अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है, वह बाहरी समस्या का सामना करते हुए भी अपने अन्तस् में समस्या से मुक्त रहता है। बाहर के वातावरण में समुदाय के बीच में रहते हुए भी वह अन्तस् में अकेला रहता है और बाहरी जीवन में व्यस्तता से मुक्त रहता है।

८ जून
२००६

अन्यत्व अनुप्रेक्षा

मनुष्य का सबसे पहले संबंध शरीर से होता है। शरीर और आत्मा में भेदानुभूति नहीं होती। जो शरीर है वह मैं हूं, और जो मैं हूं वह शरीर है—इस अभेदानुभूति के आधार पर ही मनुष्य के ममत्व का विस्तार होता है। सम्यग् दर्शन का मूल अन्यत्व भावना है। इसे विवेक भावना या भेदज्ञान भी कहा जाता है। शरीर और आत्मा की भिन्नता की भावना पुष्ट होने पर मोह की ग्रंथि खुल जाती है। सहज ही मन स्थिर हो जाता है। इसीलिए पूज्यपाद ने इस अनुप्रेक्षा को तत्त्वसंग्रह कहा है—जीवोऽन्यः पुद्गलाश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।

६ जून
२००६

अशौच अनुप्रेक्षा

पुद्गलों के बाहरी संस्थान का सौन्दर्य देखकर उनमें मन आसक्त हो जाता है। चमड़ी के भीतर जो है, वह आकर्षक नहीं है। बाहरी संस्थान के साथ आंतरिक वस्तुओं का बोध करना—उन्हें साक्षात् देखना अनासक्ति का हेतु है। प्राणी के शरीर में रहने वाले अशुचि पदार्थ, मृत शरीर की दुर्गन्ध आदि का योग होने पर मूर्च्छा का भाव क्षीण हो जाता है।

१० जून
२००६

आश्रव-संवर अनुप्रेक्षा

बाहर से कुछ लेना, उसे संचित करना, उससे प्रभावित होना और उसके अनुरूप अपने आपको ढालना—ये सब आश्रव की प्रक्रियाएं हैं। यही मानसिक चंचलता की प्रक्रिया है। संवर की क्रिया इसकी प्रतिपक्ष है। बाहर से कुछ भी लिया नहीं जाएगा तो उससे प्रभावित होने की परिस्थिति ही उत्पन्न नहीं होगी। इस स्थिति में मानसिक स्थिरता अपने आप हो जाती है।

११ जून
२००६

निर्जरा अनुप्रेक्षा

विजातीय द्रव्य संचित होता है तब शरीर अस्वस्थ बनता है। उसके निकल जाने पर शरीर स्वयं स्वस्थ बन जाता है। बाहरी संचय का निर्जरण होने पर मानसिक चंचलता के हेतु अपने आप समाप्त हो जाते हैं। निर्जरा का हेतु तपस्या है। जो साधक तपस्या का अर्थ नहीं जानता, वह ध्यान का मर्म नहीं जान सकता।

१२ जून
२००६

धर्म अनुप्रेक्षा

धर्म आत्मा का सहज परिणमन है। निमित्त मिलता है, क्रोध उभर आता है किन्तु कोई भी आदमी प्रतिक्षण क्रोध नहीं करता और कर भी नहीं सकता। क्षमा प्रतिक्षण की जा सकती है क्योंकि वह उसका सहज रूप है।

ऋजुता हर क्षण हो सकती है किन्तु माया का आचरण हर क्षण नहीं होता। धर्म की भावना का अर्थ है—आत्मा के स्वाभाविक रूप की खोज करना। इसमें इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं और मन अपने अस्तित्व के मूल प्रवाह में विलीन हो जाता है।

१३ जून
२००६

लोक-संस्थान अनुप्रेक्षा

यह लोक विविधताओं की रंगभूमि है। उसमें अनेक संस्थान और अनेक परिणमन हैं। उन सबमें एकत्व या समत्व की अनुभूति कर घृणा, अभिमान और हीन भावना पर विजय पायी जा सकती है। समत्व की साधना के लिए इस अनुप्रेक्षा के अभ्यास का बहुत महत्त्व है।

१४ जून
२००६

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

बोधि के तीन प्रकार हैं–ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि। सहजतया मनुष्य का आकर्षण ऐश्वर्य और सुख-सुविधा में होता है, किन्तु वे ही दुःख के हेतु बनते हैं, इस स्थिति को मनुष्य भुला देता है। इस अनुप्रेक्षा में मनुष्य के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित होता है। इस जगत् में दुर्लभ क्या है? धन-सम्पदा और सुख-सुविधा वस्तुतः दुर्लभ नहीं हैं। दुर्लभ है मानसिक शांति। वह धन-सम्पदा और सुख-सुविधा से प्राप्त नहीं होती किन्तु सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टिकोण और सम्यग्चारित्र के द्वारा प्राप्त होती है।

मन की शांति का हेतु बोधि है। कारण प्राप्त होने पर कार्य की सिद्धि सहज हो जाती है। बोधि प्राप्त होने पर मन की शांति का प्रश्न जटिल नहीं होता।

१५ जून
२००६

मैत्री भावना

कोई व्यक्ति पाप अथवा अशुभ का आचरण न करे, कोई व्यक्ति दुःखी न बने, प्रत्येक व्यक्ति बंधन से मुक्त हो, यह मैत्री भावना का चिंतन है।

उपाध्याय विनयविजयजी के अनुसार मैत्री का अर्थ है 'मैत्री परेषां हितचिन्तनं यत्'—दूसरों के हित का चिंतन करना।

एक के प्रति मैत्री और दूसरे के प्रति अमैत्री—यह व्यावहारिक मैत्री है। आध्यात्मिक मैत्री प्राणी मात्र के साथ होती है।

मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते।।

योगशास्त्र ४.११८

१६ जून
२००६

प्रमोद भावना

व्यक्ति का आदर करने वाले लोग बहुत मिलते हैं, गुणों का आदर करने वाले कम। गुण का आदर अथवा गुणी का आदर गुणी बनने की प्रेरणा देता है। इसलिए बहुत अपेक्षित है गुणों का समादर।

कुछ मनुष्य प्रकृति से ही गुणों का समादर करते हैं। कुछ मनुष्यों में गुणों का समादर करने की सहज वृत्ति नहीं होती। प्रमोद भावना के द्वारा गुणों का समादर करने की वृत्ति का विकास किया जा सकता है।

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो, यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः।।

योगशास्त्र ४.११६

१७ जून
२००६

कारुण्य भावना

सव्वेसिं जीवियं पियं।

प्रत्येक प्राणी को जीवन प्रिय है।

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिऊं।

सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता।

सव्वे पाणा पियाउया।

सब जीवों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय।

उक्त मानसिकता की स्थिति में सबके हितचिंतन का नाम है—करुणा, कारुण्य भावना।

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते।।

योगशास्त्र ४.१२०

१८ जून
२००६

माध्यस्थ्य भावना

हमारा जगत् नानात्व का जगत् है। नानात्व है इसीलिए सबका चिंतन, भाव और आवेश समान नहीं होता, बहुत तारतम्य होता है। कुछ व्यक्ति हित की शिक्षा सुनकर सकारात्मक चिंतन करते हैं और कुछ व्यक्ति ठीक इससे विपरीत करते हैं। कुछ ऐसे हैं जो हित की बात सुन हित शिक्षा की बात को सहन ही नहीं करते। इस स्थिति में हित शिक्षा वाले के लिए हितकर है उपेक्षा का प्रयोग, माध्यस्थ्य का प्रयोग।

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्॥

योगशास्त्र ४.१२१

१६ जून
२००६

अनुप्रेक्षा का फल

भंते! अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिंतन) से जीव क्या प्राप्त करता है?

अनुप्रेक्षा से जीव आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के गाढ-बंधन से बन्धी हुई प्रकृतियों को शिथिल-बंधन वाली कर देता है, उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन कर देता है, उनके तीव्र अनुभाव को मन्द कर देता है। उनके बहु-प्रदेशाग्र को अल्प-प्रदेशाग्र में बदल देता है। आयुष्-कर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता। असातवेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि-अनंत लम्बे-मार्ग वाली तथा चतुर्गति-रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी को तुरन्त ही पार कर जाता है।

अणुप्पेहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधनबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठि-इयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुपएसग्गाओ अप्पएससग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सियं बंधइ सियं नो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ।।

उत्तरज्झयणाणि २६.२३

२० जून
२००६

प्रतिपक्ष भावना

जो पुरुष अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है, वह प्राप्त कामों का सेवन नहीं करता।

अलोभ को लोभ से जीतना—यह प्रतिपक्ष का सिद्धांत है। शांति से क्रोध, मृदुता से मान और ऋजुता से माया निरस्त हो जाती है, वैसे ही अलोभ से लोभ निरस्त हो जाता है। जैसे आहार-परित्याग ज्वर वाले के लिए औषधि है, वैसे ही लोभ का परित्याग असंतोष की औषधि है—

यथाहारपरित्यागः ज्वरतस्यौषधं तथा।
लोभस्यैवं परित्यागः असंतोषस्य भेषजम्।।

लोभं अलोभेण दुगंछमाणे, लद्धे कामे, नाभिगाहइ।

आयारो २.३६

२१ जून
२००६

औदासीन्य (१)

योग में औदासीन्य का बहुत महत्त्व है। बाह्य पदार्थों के प्रति उदासीन रहने वाले योगी की चिंतनधारा लौकिक चिंतनधारा से भिन्न होती है। योगी का लक्ष्य है मानसिक स्थिरता—एकाग्रता। संकल्प-विकल्प मानसिक स्थिरता को भंग करते हैं। इसलिए योगी को वैसा चिंतन नहीं करना चाहिए जिससे चित्त संकल्प-जाल से आकुल होकर स्थिरता में बाधक बने।

औदासीन्यपरायणवृत्तिः किञ्चिदपि चिन्तयेन्नैव।
यत् संकल्पाकुलितं चित्तं नासादयेत् स्थैर्यम्॥

योगशास्त्र १२.१६

२२ जून
२००६

औदासीन्य (२)

'हस्तामलकवत्' यह न्याय बहुत प्रसिद्ध है। एक आदमी आंवले को हथेली में लेकर दिखा सकता है, किन्तु परम तत्त्व को हथेली में लेकर नहीं दिखा सकता। औरों की क्या बात! स्वयं गुरु भी परम तत्त्व को हथेली में लेकर नहीं दिखा सकते। जो योगी औदासीन्य की साधना करता है, उसके सामने परम तत्त्व स्वयं प्रकाशित हो जाता है।

यदिदं तदिति न वक्तुं, साक्षाद् गुरुणाऽपि हन्त! शक्येत्।
औदासीन्यपरस्य, प्रकाशते तत् स्वयं तत्त्वम्॥

योगशास्त्र १२.२१

२३ जून
२००६

तपोयोग : ध्यान

तपोयोग की साधना का चौथा सूत्र है—ध्यान। ज्ञान और ध्यान एक ही चित्त की दो अवस्थाएं हैं। चित्त की चंचल अवस्था को ज्ञान और स्थिर अवस्था को ध्यान कहा जाता है। जो चित्त भिन्न-भिन्न आलंबनों पर स्फुरित होता है, वह उसकी ज्ञानात्मक अवस्था है। इसकी तुलना सूर्य की बिखरी हुई रश्मियों से की जा सकती है। जो चित्त एक ही आलंबन पर स्थिर, निरुद्ध या केन्द्रित हो जाता है, वह उसकी ध्यानात्मक अवस्था है।

२४ जून
२००६

ध्यान की पृष्ठभूमि

इन्द्रियों का संयम नहीं किया, चित्त की चंचलता को सीमित करने की साधना नहीं की, निर्वेद (वैराग्य अथवा अनासक्त भाव) उपलब्ध नहीं हुआ और अपनी आत्मा को कष्ट-सहिष्णुता से भावित नहीं किया, फिर भी तुम मोक्ष पाने की इच्छा रखते हो और उसके लिए ध्यान की साधना करते हो! सोचो, क्या तुम अपने आपको ठग नहीं रहे हो? इहलोक और परलोक, दोनों की श्रेष्ठता से वंचित नहीं हो रहे हो?

तात्पर्य की भाषा यह है कि यदि तुम मोक्ष की अभिलाषा करते हो और उसके लिए ध्यान की साधना करते हो, तो इन्द्रियों पर संयम, चंचलता का निरोध, वैराग्य और कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास करना जरूरी है।

इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्तनिर्जयः।
न निर्वेदः कृतो मित्र नात्मा दुःखेन भावितः।।
एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यानसाधने।
स्वमेव वञ्चितं मूढैर्लोकद्वयपथच्युतैः।।

ज्ञानार्णव २०.२१,२२

२५ जून

२००६

ध्यान के अधिकारी

ध्यान के अधिकारी दो प्रकार के होते हैं—

१. अपरिणतयोग वाला—मानसिक, वाचिक और शारीरिक साधना की दृष्टि से अपरिपक्व।

२. परिणतयोग वाला—मानसिक, वाचिक और शारीरिक साधना की दृष्टि से परिपक्व।

विजन स्थान का निर्देश अपरिणतयोग वाले मुनि के लिए है। परिणतयोग वाला मुनि, जिसका मन सुनिश्चल है, के लिए ग्राम अथवा शून्य, विजन अथवा जनाकीर्ण स्थान का कोई अन्तर नहीं होता है।

थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो।।

झाणज्झयणं ३६

२६ जून
२००६

ध्यान

अध्यवसान दो प्रकार का होता है–

१. स्थिर, निश्चल

२. चल

ध्यान का अर्थ है स्थिर अध्यवसान–एक आलंबन पर होने वाली मन की एकाग्रता।

चल अध्यवसान का अर्थ है–चित्त। वह तीन प्रकार का होता है–

१. भावना

२. अनुप्रेक्षा

३. चिन्ता

जं थिरमज्झावसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता।।

झाणज्झयणं २

२७ जून
२००६

ध्येय और ध्यान

ध्यान के दो प्रकार हैं—

१. सालम्बन

२. निरालम्बन

योगशास्त्र में आलंबन के चार प्रकार बतलाए गए हैं—

१. पिण्ड

२. पद

३. रूप

४. अरूप

इनके आधार पर ध्यान के चार प्रकार बनते हैं—

१. पिण्डस्थ

२. पदस्थ

३. रूपस्थ

४. रूपातीत

पिण्डस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ।।

योगशास्त्र ७.८

२८ जून
२००६

धारणा

सालंबन ध्यान के लिए आवश्यक है–धारणा, किसी ध्येय पर चित्त को टिकाना।

शरीर के अनेक स्थान ऐसे हैं, जिन पर स्थापित किया हुआ मन स्वसंविति (स्वानुभव) का हेतु बनता है। ध्यान के लिए शरीरगत धारणा-स्थान–नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भ्रूकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक का निर्देश दिया गया है।

नाभि-हृदय-नासाग्रभाल-भ्रू-तालु-दृष्टयः।
मुखं कर्णौ शिरश्चेति, ध्यान-स्थानान्यकीर्तयन्॥
एषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेः बहवः प्रत्ययाः किल॥

योगशास्त्र ६.७,८

२६ जून
२००६

ध्यान के सहायक तत्त्व

ऊनोदरिका, रस-परित्याग, उपवास, स्थान– आसन, मौन, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय, भावना और व्युत्सर्ग—ये सब ध्यान के सहायक तत्त्व हैं।

१. ऊनोदरिका—जितनी भूख, उससे कम खाना, परिमित आहार करना।

२. रस-परित्याग—दूध, दही आदि रसों का संतुलित सेवन।

३. उपवास

४. स्थान—कायोत्सर्ग।

ऊनोदरिका - रसपरित्यागोपवास - स्थान- मौन - प्रति-संलीनता-स्वध्याय-भावना-व्युत्सर्गास्तत् सामग्र्यम्।

मनोनुशासनम् ३.२

३० जून
२००६

ध्यान की सामग्री (१)

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को ध्यान की सामग्री पर अवश्य चिंतन करना चाहिए।

ध्यान की सामग्री के तीन प्रमुख अंग हैं–

१. ध्याता

२. ध्येय

३. ध्यान का फल

सामग्री के बिना कार्य सिद्ध नहीं होता, यह सहज नियम है। ध्यान की सिद्धि के लिए भी यह नियम अपेक्षित है।

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं, ध्याता ध्येयं तथा फलम्।
सिध्यन्ति न हि सामग्रीं बिना कार्याणि कर्हिचित्।।

योगशास्त्र ७.१

१ जुलाई
२००६

ध्यान की सामग्री (२)

आर्त्त और रौद्रध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं। ये आत्मसाधना में बाधक हैं। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान, ये दोनों प्रशस्त ध्यान हैं। ये आत्म-साधना में साधक हैं। साधक को पहले धर्म्यध्यान का अभ्यास करना चाहिए। उसका अभ्यास परिपक्व होने पर उसे शुक्लध्यान की स्थिति प्राप्त होती है।

धर्म्यध्यान का अभ्यास करने वाले ध्याता को निम्न निर्दिष्ट विषयों का ज्ञान आवश्यक है—

१. भावना २. देश ३. काल ४. आसन ५. आलंबन ६. क्रम ७. ध्येय विषय ८. ध्याता ९. अनुप्रेक्षा १०. लेश्या ११. लिंग और १२. फल।

झाणस्स भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं।
आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो।।
तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं।।

झाणज्झयणं २८,२९

२ जुलाई
२००६

ध्यान विधि

एकान्त स्थान में स्थिर आसन में बैठ प्राणायाम की साधना कर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थापित कर ध्यान और समाधि का अभ्यास किया जा सकता है।

पदस्थ ध्यान की विधि

पद पर ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। 'अधुवे' इत्यादि पदों पर ध्यान किया जाए अथवा समभाव में स्थिर होकर अपने में बीती हुई दुःखद घटनाओं का चिंतन किया जाए तो यह ध्यान सिद्ध हो सकता है।

थिर आसन एकान्त रहि, प्राणायाम प्रसाधि।
भ्रूमध दृष्टि सुथाप मन, सझियै ध्यान समाधि।।
पद पर ध्यान पदस्थ वर, 'अधुवे' इत्यादीन।
निज बीतक दुख चिन्तवत, उदासीन आसीन।।

आराधना, ध्यान विधि २,३

३ जुलाई
२००६

ध्यान : कालमान (१)

आवागमन से शून्य स्थान में जा शरीर और मन को स्थिर बना कर ध्यान किया जाए। वह दिन या वेला कब आएगी जब दुःख पैदा करने वाले मानसिक द्वन्द्व समाप्त होंगे?

प्रातःकाल, मध्याह्न अथवा संध्या के समय ध्यान करने से निश्चित ही विषय की उपाधि मिट जाती है।

अनापात-जन स्थान जइ, तन मन स्थिर धर ध्यान।
वो दिन बेला कब हुस्यै, मिटत धंध दुख-खान।।
मध्याह्ने संध्या पछै, प्रात समय निशि साध।
अवस्य नियम करि नै जुड़्यां, मिटियै विषय-उपाध।।

· आराधना, ध्यान विधि ४,५

४ जुलाई
२००६

ध्यान : कालमान (२)

जैन योग में ध्यान की कालावधि पर विचार किया गया है। अंतर्मुहूर्त (कुछ सैकेण्ड से लेकर ४ मिनिट) तक एक विषय पर मन की एकाग्रता रहती है। तत्पश्चात् दो विकल्प होते हैं–

प्रथम विकल्प–ध्यान का आलंबन बदल जाता है और परिवर्तित आलंबन पर ध्यान किया जा सकता है। आलंबन का परिवर्तन अनेक बार हो सकता है और इस प्रकार अंतर्मुहूर्त से अधिक समय तक भी ध्यान चालू रह सकता है।

दूसरा विकल्प–अन्तर्मुहूर्तावधि के बाद ध्यान छूट जाता है और चिंतन शुरू हो जाता है।

मुहूर्तान्तर्मनःस्थैर्यं, ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम्।
धर्म्यं शुक्लं च तद्द्वेधा, योगरोधस्त्वयोगिनाम्।।
मुहूर्तात् परतश्चिन्ता, यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद् दीर्घाऽपि ध्यान-सन्ततिः।।

योगशास्त्र ४.११५,११६

५ जुलाई
२००६

ध्यान : कालमान (३)

जैसे ध्यान के लिए किसी देश (क्षेत्र) का नियम नहीं है वैसे ही काल का नियम नहीं है। ध्यान प्रातः काल अच्छा होता है या सायंकाल—यह भी कोई नियम नहीं है। ध्यान दिन में अच्छा होता है या रात में—यह भी कोई नियम नहीं है। जिस समय योग का समाधान हो सके—मन, वचन और शरीर स्वस्थ रहे, वही ध्यान का काल है।

कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
न उ दिवसनिसावेलाइनियमणं झाइणो भणियं।।

झाणज्झयणं ३८

६ जुलाई
२००६

ध्यान की कालावधि (१)

ध्यान के अधिकारी दो कोटि के होते हैं–

१. छद्मस्थ–आवरणयुक्त ज्ञान वाला।

२. केवली–निरावरण ज्ञान वाला।

छद्मस्थ का एक आलंबन पर चित्त का अवस्थान निश्चित समय तक होता है। समय की अवधि है अंतर्मुहूर्त। उसके पश्चात् ध्यान की धारा बदल जाती है, ध्यानान्तर हो जाता है अथवा चिंतन का प्रारंभ हो जाता है।

अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थंमि।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु।।
अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जाहि।

झाणज्झयणं ३.४

७ जुलाई
२००६

ध्यान की कालावधि (२)

ध्यान के कालमान के विषय में जो कहा गया है, वह सापेक्ष है। ध्यान संतान (प्रवाह) दीर्घकालीन भी हो सकता है। एक आलंबन पर होने वाले ध्यान के लिए अन्तर्मुहूर्त की कालावधि का निर्देश किया गया है। यदि ध्यान के आलंबन अनेक हैं तो उसकी कालावधि भी दीर्घ हो सकती है।

सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो।

झाणज्झयणं ४

८ जुलाई
२००६

ध्यान के हेतु

ध्यान की सिद्धि के चार मुख्य हेतु हैं–

१. गुरु का उपदेश–ध्यान की विधि को जानकर ध्यान करने वाला साधक अपनी साधना में अधिक सफल बन सकता है।

२. श्रद्धा–ध्यान की साधना में विश्वास जितना दृढ़ होता है, साधक ध्यान की साधना में उतना ही अधिक सफल होता है।

३. निरन्तर अभ्यास–निरन्तर अभ्यास का नियम प्रत्येक कार्य की सफलता का नियम है। ध्यान के लिए भी वह अनिवार्य है।

४. मन की स्थिरता–एकाग्रता, एक आलंबन पर मन को स्थिर रखने की साधना।

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाऽभ्यासः स्थिरं मनः ।।

तत्त्वानुशासन २१८

६ जुलाई
२००६

ध्यान और आसन (१)

योगी को आसन-विजय प्राप्त करनी चाहिए। सुस्थिर आसनवाला योगी ही ध्यानकाल में खिन्न नहीं होता, चंचल नहीं होता। आसन के अभ्यास के बिना शरीर की स्थिरता नहीं होती। जिसका शरीर स्थिर होता है, वह ध्यान काल में खेद-खिन्नता का अनुभव नहीं करता। आसन पर विजय करने वाला योगी सर्दी-गर्मी आदि समभाव से सहन कर लेता है।

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः।।
आसनाभ्यासवैकल्याद्वपुःस्थैर्यं न विद्यते।
खिद्यते त्वङ्गवैकल्यात्समाधिसमये ध्रुवम्।।
वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते।।

ज्ञानार्णव २८.३०-३२

१० जुलाई
२००६

ध्यान का आसन (२)

ध्यान के लिए विविध आसनों का विधान किया जाता है। प्रारंभ काल के लिए वह उचित है, किन्तु अभ्यास की गति होने पर आसन का कोई नियम नहीं है। वही आसन मान्य है, जो ध्यान में बाधा न डाले।

ध्यान करने वाला खड़े होकर (ऊर्ध्व कायोत्सर्ग की मुद्रा में), बैठकर (वीरासन आदि की मुद्रा में), लेटकर (दण्डायत आदि की मुद्रा में) ध्यान कर सकता है।

जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो च।।
तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा (प) यइयव्वं।।

झाणज्झयणं ३८,४१

११ जुलाई
२००६

ध्यानस्थल (१)

ध्यान के लिए वन, पर्वतशिखर, कमलवन आदि अनेक स्थलों का निर्देश किया जाता है। किन्तु ध्यान के लिए सहायक स्थान का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। जिस स्थान पर ध्यान करने पर राग और द्वेष उपशांत रहें, वही स्थान ध्यान के लिए प्रशस्त है।

सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा।
पुलिने पद्मखण्डांन्ते प्राकारे शालसङ्कटे।।
यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसति साध्वी ध्यानकाले विशेषतः।।

ज्ञानार्णव २८.२,८

१२ जुलाई
२००६

ध्यानस्थल (२)

ध्यान के लिए विजन (एकान्त) स्थान सर्वोत्तम माना गया है। जिस स्थान में स्त्रियों, पशुओं और नपुंसकों का आवास न हो तथा जुआरी आदि कुशील जनों का प्रवेश न हो, वह स्थान साधु के लिए ध्यान करने योग्य होता है।

ध्यान के उपयुक्त स्थान का निर्देश आध्यात्मिक विकास करने वालों के लिए किया गया है। साधारणतया ध्यान करने वाले के लिए केवल विजन स्थान का उल्लेख ही उचित हो सकता है।

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जियं जइणो।
ठाणं वियणं भणियं विसंसओ झाणकालंमि।।

झाणज्झयणं ३५

१३ जुलाई
२००६

ध्यान की दिशा

जैसे ध्यान की सिद्धि के लिए स्थान और आसन का निर्धारण आवश्यक है वैसे ही दिशा का निर्धारण भी आवश्यक है। ध्यान करने वाले साधक का मुख दो दिशाओं में होना चाहिए—

१. पूर्व दिशा

२. उत्तर दिशा

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम्।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः।।
पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते।।

ज्ञानार्णव २८.२०,२३

१४ जुलाई
२००६

ध्यान की मुद्रा

ध्याता के लिए ध्यान–मुद्रा का निर्देश किया गया है–ध्यान करने के लिए उद्यत व्यक्ति इस मुद्रा का अनुसरण करें–

१. सुखासन में बैठे,

२. दोनों होठ मिले हुए हों,

३. दृष्टि नासाग्र पर टिकी हुई हो,

४. नीचे की दन्त पंक्ति का ऊपर की दन्त पंक्ति से स्पर्श न हो,

५. मुख प्रसन्न हो,

६. मुख पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर रहे,

७. प्रमाद मुक्त रहे,

८. सुसंस्थान–मेरुदंड सीधा रहे।

सुखासनसमासीनः सुश्लिष्टाधरपल्लवः।
नासाग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्॥
प्रसन्नवदनः पूर्वाभिमुखो वाप्युदङ्मुखः।
अप्रमत्तः सुसंस्थानो ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत्॥

योगशास्त्र ४.१३५,१३६

१५ जुलाई
२००६

ध्यान की कोटियां

साधारणतया ध्यान साधना का अंग माना जाता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, दोनों साधना के विरोधी हैं, फिर भी उन्हें ध्यान की कोटि में रखा गया है। यह जैन योग का नया उपस्थान है।

एक आलंबन पर मन का निरोध ध्यान बनता है। आलंबन प्रशस्त और अप्रशस्त, दोनों प्रकार का हो सकता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्त आलंबन वाले ध्यान हैं, फिर भी एकाग्रता के कारण उन्हें ध्यान की कोटि से बाहर नहीं रखा जा सकता।

१६ जुलाई
२००६

ध्यान की योग्यता (१)

ध्यान के दो प्रयोजन हैं। प्रयोजन के आधार पर ध्यान करने वालों की दो कक्षाएं बन जाती हैं–१.कुछ व्यक्ति तनाव आदि की समस्या से मुक्त होने के लिए ध्यान करते हैं। २. कुछ व्यक्ति आध्यात्मिक विकास, आंतरिक शक्तियों के जागरण के लिए ध्यान करते हैं।

ध्यान की सामग्री तथा योग्यता का विवेचन दूसरी कक्षा के ध्याता के लिए किया गया है। आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान करने वाला व्यक्ति ध्यान की साधना से पूर्व कुछ अभ्यास करता है। अभ्यास-सिद्ध व्यक्ति ध्यान करने के योग्य बन जाता है।

१७ जुलाई
२००६

ध्यान की योग्यता (२)

योग्यता के लिए चार भावनाओं का निर्देश है–

१. ज्ञान भावना

२. दर्शन भावना

३. चारित्र भावना

४. वैराग्य भावना

इन चार भावनाओं का अभ्यास–आसेवन ध्यान के लिए आवश्यक है।

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाण-दंसण-चरित्त वेरग्गनियता (जणिया)ओ।।

झाणज्झयणं ३०

१८ जुलाई
२००६

ध्यान की योग्यता : ज्ञान भावना

ज्ञान भावना के अभ्यास के लिए चार सूत्र निर्दिष्ट हैं–

१. मनोधारण–श्रुतज्ञान में मन का सम्यक् नियोजन करना। इसका फलितार्थ है–स्वाध्याय। वह ध्यान का प्रमुख साधन है।

२. विशुद्धि–भावशुद्धि का अभ्यास। इसका फलितार्थ है–सकारात्मक चिंतन और सकारात्मक भाव।

३. सार का चिंतन–जीव, अजीव आदि द्रव्यों और पर्यायों के विषय में चिंतन करना।

४. निश्चल मति–मानसिक चंचलता से मुक्त रहना।

णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च।
नाण गुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ।।

झाणज्झयणं ३१

१९ जुलाई
२००६

ध्यान की योग्यता : दर्शन भावना

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा—ये सम्यक् दर्शन के दोष हैं। इनसे बचने का पुनः-पुनः चिंतन दर्शन भावना का पहला अंग है।

प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य– ये सम्यक् दर्शन के लक्षण हैं। इनके विकास करने की साधना करते रहना आवश्यक है।

संकाइदोसरहिओ पसमथेज्जाइगुणणोवेओ।
होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि।।

झाणज्झयणं ३२

२० जुलाई
२००६

ध्यान की योग्यता : चारित्र भावना

ध्यान के लिए परिणामशुद्धि की आवश्यकता है। अशुद्धि का हेतु है कर्म। पुराने कर्म संचित रहते हैं और नए-नए कर्मों का ग्रहण होता रहता है। इस अवस्था में परिणाम की शुद्धि नहीं होती। अशुद्ध अवस्था में मन का विक्षेप होता है, चंचलता बढ़ती है।

चारित्र का अभ्यास परिणामशुद्धि का निर्माण करता है, मानसिक चंचलता कम हो जाती है और साधक में धर्म्यध्यान की योग्यता बढ़ जाती है।

नवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ॥

झाणज्झयणं ३३

२१ जुलाई
२००६

ध्यान की योग्यता : वैराग्य भावना

जन्म और मरण का चक्र चल रहा है, धन से शांति नहीं मिलती, पारिवारिक संबंध भी समस्या पैदा करते हैं, संयोग और वियोग का अपना नियम है—यह जगत् का स्वभाव है।

जो व्यक्ति जगत् के स्वभाव को अच्छी तरह जानता है, वह विरक्त हो सकता है।

जगत् के स्वभाव को जान लेने के बाद भी पौद्गलिक विषयों के प्रति आसक्ति हो सकती है। इसलिए आवश्यक है निःसंग रहने का अभ्यास करना।

जो व्यक्ति निर्भय और आकांक्षा से मुक्त होता है वह विरक्त अवस्था में जा सकता है।

जगत्–स्वभाव का ज्ञान, निःसंगता, अभय और अनाशंसा—इनके समुच्चय का नाम है वैराग्यभावना।

सविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो झाणंमि सुनिच्चलो होइ।।

झाणज्झयणं ३४

२२ जुलाई
२००६

ध्यान का क्रम

ध्यान करने वाला साधक एक साथ सिद्धि के द्वार तक नहीं पहुंच सकता। उसे क्रमशः सोपान पंक्ति का आरोहण करना होता है। गंतव्य-स्थल तीन हैं-

१. अलक्ष्य

२. सूक्ष्म

३. निरालम्ब

ध्यान-साधक पहले लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करे। क्रमशः अलक्ष्य तक पहुंच जाए। वह पहले स्थूल पर ध्यान केन्द्रित करे। क्रमशः सूक्ष्म तक पहुंच जाए। वह पहले आलंबन पर ध्यान केन्द्रित करे। क्रमशः निरालम्ब तक पहुंच जाए।

अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाद्य निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा।।

ज्ञानार्णव ३३.४

२३ जुलाई
२००६

ध्यान की कसौटियां

ध्यान करने वाले साधक को अपनी कसौटी करनी चाहिए। सात बिन्दुओं के आधार पर उसका परीक्षण किया जा सकता है—

१. एकाग्रता (ध्रुवा स्मृति) हुई या नहीं? यदि हुई तो कितने क्षणों तक?

२. स्मृति का समन्वाहार हुआ या नहीं?

३. सुख का अनुभव हो रहा है या नहीं?

४. मन जागरूक बना या नहीं? एक विषय पर कितने क्षण तक चित्त जाग्रत रहता है?

५. कषाय उपशांत हो रहा है या नहीं?

६. स्वभाव में कोई परिवर्तन हो रहा है या नहीं?

७. कुछ सूक्ष्म अनुभव हुआ या नहीं?

२४ जुलाई
२००६

ध्यान का प्रभाव

अर्हत् मल्लि का वर्ण नील है। तुमने निर्मल ध्यान किया और अल्पकाल में (एक प्रहर के बाद) परमज्ञान (केवलज्ञान) पा लिया।

तुम्हारे शरीर से कल्पवृक्ष की पुष्पमाला जैसी सुगंध फूट रही थी। देवांगनाओं के नयन रूपी भ्रमर उसके प्रति आकर्षित हो झूम रहे थे।

तुम्हारे प्रसाद से स्वचक्र परचक्र के भय और विविध विघ्न वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे सिंहनाद सुनकर गजेन्द्र।

नील वर्ण मल्लि जिनेश्वर, ध्यान निर्मल ध्यायो।
अल्प काल मांहि प्रभू, परम-ज्ञान पायो।।
कल्प पुष्पमाल जेम, सुगंध तन सुहायो।
सुर-वधू वर नयन-भ्रमर, अधिक ही लिपटायो।।
स्व पर चक्र विविध विघन, मिटत तो पसायो।
सिंघनाद थकी गजेन्द्र, जेम दूर जायो।।

चौबीसी १९.१-३

२५ जुलाई
२००६

ध्यानसिद्धि

धर्म्यध्यान की सिद्धि के लिए चार भावना का अभ्यास आवश्यक है—

१. मैत्री—सब जीवों के साथ मैत्री।

२. प्रमोद—गुण पक्षपात, गुणीजनों के प्रति उल्लास की भावना।

३. कारुण्य—प्राणियों के क्लेश के प्रति होने वाली अनुकंपा।

४. माध्यस्थ्य—विपरीत वृत्तिवाले के प्रति उपेक्षा का भाव।

चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये।।

ज्ञानार्णव २७.४

२६ जुलाई
२००६

ध्यान का फल

जो साधक अर्हत् के साथ तन्मयता सिद्ध करता है, उससे उसे कुछ लाभ प्राप्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप–

१. ज्ञान

२. श्री (लक्ष्मी)

३. आयु

४. आरोग्य

५. तुष्टि (तोष)

६. पुष्टि (पोषण)

७. शरीर

८. धैर्य

इनके अतिरिक्त जितने भी प्रशस्त फल हैं, वे अर्हत् के साथ तन्मयता साधने वाले को प्राप्त हो जाते हैं।

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिः पुष्टिर्वपुर्धृतिः।
यत्प्रशस्तमिहाऽन्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते॥

तत्त्वानुशासन १६८

२७ जुलाई
२००६

तादात्म्य ध्यान (१)

तुम्हारी वाणी चन्द्रमा की भांति शीतल और उपशम रस से भरी हुई है। जो व्यक्ति उसे सुनते हैं, उनके कर्म, भ्रम और मोहजाल दूर हो जाते हैं।

तुम सही अर्थों में वीतराग हो। जो अपने चित्त को एकाग्र बना तुम्हारा ध्यान करते हैं, वे परम मानसिक तोष की प्राप्ति होने पर ध्यान-चेतना के द्वारा तुम्हारे समान बन जाते हैं।

हो प्रभु! चंद जिनेश्वर चंद जिसा, वाणी शीतल चंद सी न्हाल हो।
प्रभु! उपशम रस जन सांभल्या, मिटै करम भरम मोह जाल हो।।
अहो! वीतराग प्रभु तूं सही, तुम ध्यान ध्यावै चित रोक हो।
प्रभु! तुम तुल्य ते हुवै ध्यान सूं, मन पायां परम संतोष हो।।

चौबीसी ८.१,३

२८ जुलाई
२००६

तादात्म्य ध्यान (२)

विमल बनाने वाले विमल प्रभो! तुम सचमुच विमल हो। विमल का ध्यान करने वाला निर्मल बन जाता है। तुम्हारे प्रति मेरा शरीर और मन, दोनों प्रीति से सराबोर हो गये।

तुमने विमल ध्यान किया, इसलिए हे जगदीश! तुम विमल बन गये। जो कोई तुम्हारा (विमल का) ध्यान करेगा, वह तुम्हारे जैसा हो जायेगा।

विमल करण प्रभु विमलनाथ जी, विमल आप वर रीत।
विमल ध्यान धरतां हुवै निर्मल, तन मन लागी प्रीत।।
विमल ध्यान प्रभु आप ध्याया, तिण सूं हुवा विमल जगदीश।
विमल ध्यान बलि जै कोई ध्यासी, होसी विमल सरीस।।

चौबीसी १३.१,२

२६ जुलाई
२००६

तन्मय ध्यान (१)

परिणमन का सिद्धांत सार्वभौम है। प्रतिक्षण द्रव्य में परिणमन होता रहता है। यह किसी निमित्त या कारण के बिना अपने आप बदलता रहता है। यह अनादि परिणमन का सिद्धांत है। कुछ परिणमन समयावधि के साथ होते हैं। उनकी संज्ञा है सादि परिणमन। इसके द्वारा वस्तु को नया आकार मिलता है।

ध्यान का सिद्धांत है आत्मा का जिस भाव से परिणमन होता है वह उसी रूप में बदल जाता है—तन्मय हो जाता है। अर्हत् का ध्यान करने वाला स्वयं अर्हत् में परिणत हो जाता है।

परिणमते येनाऽऽत्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाऽऽविष्टो भावार्हन् स्यात्स्वयं तस्मात्।।

तत्त्वानुशासन १९०

३० जुलाई
२००६

तन्मय ध्यान (२)

धर्म और धर्म करने वाला—यह द्वैत है।

जब व्यक्ति की चेतना धर्म में परिणत नहीं होती, उस अवस्था में धर्म और धर्मकर्ता का द्वैत बना रहता है। जब चेतना धर्म में परिणत हो जाती है, उस अवस्था में धर्म और धर्मकर्ता का द्वैत समाप्त हो जाता है। उस समय में इस भाषा का प्रयोग किया जा सकता है कि आत्मा धर्म है।

इसका सिद्धांत यह है—जिस काल में चेतना में जो परिणमन होता है उस समय वह तन्मय बन जाती है।

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तन्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो॥

प्रवचनसार ८

३१ जुलाई
२००६

तन्मय ध्यान (३)

साधक तन्मय हो सकता है। उसके लिए आत्मवित् साधक अपनी आत्मा को अनेक रूप में परिणत कर सकता है। परिणति का हेतु है परिणमन। साधक अपने इष्ट की भावात्मक मूर्ति का निर्माण करता है, वह उसी रूप में परिणत हो जाता है, तन्मय हो जाता है।

जैसे स्फटिक मणि का जिस उपाधि के साथ संबंध होता है वह उसी उपाधि के साथ तन्मय हो जाता है—नील, पीत आदि रूपों में बदल जाता है।

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा।।

तत्त्वानुशासन १९१

१ अगस्त
२००६

तन्मय ध्यान का प्रभाव

अर्हत् और सिद्ध के साथ तन्मयता प्राप्त करने पर साधक की तैजसशक्ति बढ़ जाती है। जब वह साधक ध्यान से आविष्ट होता है तो उसे देखकर अनिष्ट करने वाले तत्त्व पलायन कर जाते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि महाग्रह प्रकंपित हो जाते हैं, उनका अनिष्ट फल इष्ट में बदल जाता है। भूत, प्रेत आदि दूर भाग जाते हैं। क्रूर व्यक्ति भी क्षण भर में शांत हो जाता है।

तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकम्पन्ते महाग्रहाः।
नश्यन्ति भूत-शाकिन्यः क्रूराः शाम्यन्ति च क्षणात्।।

तत्त्वानुशासन १९९

२ अगस्त
२००६

तन्मय ध्यान का फल

तन्मय ध्यान के अनेक प्रयोग हैं। उनके द्वारा साधक अनेक कार्यों को सिद्ध कर सकता है।

जो इष्ट जिस कर्म का स्वामी है अथवा जिस कर्म के निष्पादन में समर्थ है, साधक उसके ध्यान से आविष्ट होकर तन्मय बन जाता है और अपने अभिलषित अर्थ की सिद्धि कर लेता है।

साधक सकलीकरण की क्रिया का प्रयोग कर कार्य निष्पादन में आने वाली बाधाओं से मुक्त हो जाता है।

यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमानसः।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवांछितम्॥

तत्त्वानुशासन २००

३ अगस्त
२००६

तन्मय ध्यान और मंत्र

मंत्र साधक योगी तन्मय ध्यान के द्वारा स्वयं को नाना रूपों में उपस्थित कर नाना प्रकार के प्रयोजन की सिद्धि कर सकता है।

वह गरुड के रूप में उपस्थित होकर क्षणभर में विष को दूर कर देता है। वह वैश्वानर होकर शीत ज्वर का, सुधामय होकर दाह ज्वर का अपनयन कर देता है। इस प्रकार वह अनेक शांतिक और पौष्टिक कार्य कर सकता है।

स स्वयं गरुडीभूयक्ष्वेडं क्षपयति क्षणात्।
कन्दर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यताम्॥
एवं वैश्वानरीभूय ज्वलज्वाला-शताकुलः।
शीतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरम्॥
स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे।
अथैनमात्मसात्कृत्य दाहज्वरमपास्यति॥
क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत्।
शान्तिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम्॥

तत्त्वानुशासन २०५-२०८

४ अगस्त
२००६

तन्मय ध्यान की सिद्धि

तन्मय ध्यान की सिद्धि होने पर साधक जिस कर्म का सामर्थ्य रखने वाला जो देव है, उस रूप में स्वयं को पूर्णतः समर्पित कर तद्रूप बन जाता है, इस अवस्था में वह अपने कार्य को सिद्ध कर लेता है।

समरसीभाव की साधना होने पर आकर्षण, वशीकरण आदि कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति।
तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम्।।
आकर्षणं वशीकारः स्तम्भनं मोहनं द्रुतिः।
निर्विषीकरणं शान्तिर्विद्वेषोच्चाट-निग्रहाः।।
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनाम्।
ततः समरसीभाव-सफलत्वान्न विभ्रमः।।

तत्त्वानुशासन २०६.२११,२१२

५ अगस्त
२००६

मातृका ध्यान (१)

नाभिकंद (आनंद केन्द्र) पर सोलह पंखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करें। उसके प्रत्येक पत्र पर सोलह स्वरों की भ्रमण करती हुई पंक्ति का ध्यान करें।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन पर चित्त को एकाग्र करें। मातृका ध्यान का यह प्रथम चरण है।

तत्र षोडश पत्राढ्ये नाभिकन्दगतेऽम्बुजे।
स्वरमालां यथापत्रं भ्रमन्तीं परिचिन्तयेत्॥

योगशास्त्र ८.१

६ अगस्त
२००६

मातृका ध्यान (२)

हृदय स्थान (आनंद केन्द्र) पर चौबीस पंखुड़ियों वाले कर्णिका सहित कमल की कल्पना करें। उसके प्रत्येक पत्र पर चौबीस व्यंजनों की पंक्ति तथा कर्णिका पर 'मकार' का ध्यान करें।

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न प फ ब भ म

इन पर चित्त को एकाग्र करें। मातृका ध्यान का यह दूसरा चरण है।

चतुर्विंशतिपत्रं च हृदि पद्मं सकर्णिकम्।
वर्णान् यथाक्रमं तत्र, चिन्तयेत् पंचविंशतिम्।।

योगशास्त्र ८.३

७ अगस्त
२००६

मातृका ध्यान (३)

मुख पर आठ पंखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करें। उसके प्रत्येक पत्र पर आठ व्यंजनों की पंक्ति का ध्यान करें।

य र ल व   श ष स ह

इन पर चित्त को एकाग्र करें। मातृका ध्यान का यह तीसरा चरण है।

वक्त्रब्जेऽष्टदले वर्णाष्टकमन्यत् ततः स्मरेत्।

योगशास्त्र ८.४

८ अगस्त
२००६

मातृका ध्यान : फलश्रुति

मातृका (वर्णमाला) का ध्यान ज्ञानात्मक विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। योग के ग्रंथों में इसके फल का निर्देश किया गया है। मातृका का ध्यान करने वाला श्रुत (शास्त्रों) पारगामी हो जाता है।

इस ध्यान से इन्द्रियातीत चेतना भी जाग्रत होती है। फलस्वरूप नष्ट, विस्मृत पदार्थों से संबद्ध भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन ज्ञान करने की क्षमता पैदा होती है।

संस्मरन् मातृकामेवं, स्यात् श्रुतज्ञानपारगः।।
ध्यायतोऽनादिसंसिद्धान्, वर्णानेतान् यथाविधि।
नष्टादिविषये ज्ञानं ध्यातुरुत्पद्यते क्षणात्।।

योगशास्त्र ८.४,५

६ अगस्त
२००६

'ह' का ध्यान

जो दूज के चन्द्रमा की कला के समान आकारवाला सूक्ष्म और सूर्य के समान भास्वर है, चारों दिशाओं में घूम रहा है, उस 'ह' वर्ण का चिंतन करें।

क्रमशः वह सूक्ष्म हो रहा है, इस पर ध्यान केन्द्रित करें। कुछ क्षणों बाद देखें कि वह अव्यक्त हो रहा है। वर्ण दिखाई नहीं दे रहा है, केवल ज्योति दिखाई दे रही है।

यह लक्ष्य से अलक्ष्य की ओर जाने का प्रयोग है। इससे आंतरिक चेतना का विकास होता है।

निशाकर-कलाकारं, सूक्ष्मं भास्करभास्वरम्।
अनाहताभिधं देवं, विस्फुरन्तं विचिन्तयेत्।।
तदेवं च क्रमात्, सूक्ष्मं ध्यायेद् बालाग्रसन्निभम्।
क्षणमव्यक्तमीक्षेत, जगज्ज्योतिर्मयं ततः।।
प्रच्याव्यमानसंलक्ष्याद् अलक्ष्ये दधतः स्थिरम्।
ज्योतिरक्षयमत्यक्षम्, अन्तरुन्मीलति क्रमात्।।
इति लक्ष्यं समालम्ब्य लक्ष्याभावः प्रकाशितः।
निषण्णमनसस्तत्र, सिद्धध्यत्यभिमतं मुनेः।।

योगशास्त्र ८.२५-२८

१० अगस्त

२००६

प्रणव ध्यान

नासिका के अग्रभाग पर प्रणव 'ॐ' शून्य '०' अनाहत 'ह' इन तीन (ॐ, ० और ह) का ध्यान करें। इस ध्यान से ज्ञान निर्मल बनता है। अतीन्द्रिय चेतना का आभास होने लगता है। अणिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियों का विकास होता है।

'प्रणव', 'शून्य' और 'ह' का ध्यान सफेद रंग में करना चाहिए।

नासाग्रे प्रणवः शून्यम् अनाहतमिति त्रयम्।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम्।।
शंख-कुन्द-शशांकाभान् त्रीनमून् ध्यायतः सदा।
समग्रविषयज्ञान-प्रागल्भ्यं जायते नृणाम्।।

योगशास्त्र ८.६०,६१

११ अगस्त
२००६

समाधिप्रत्यय

ध्यान करनेवाला साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करने पर समाधि के अतिशय अथवा चमत्कार प्रस्फुटित होते हैं। एकाग्रता की सघन स्थिति में कभी रंगों की प्रतीति होती है, कभी प्रकाश की, कभी दिव्य आत्मा की और कभी-कभी मंगल के प्रतीक बने हुए पदार्थों की।

अहंकार और ममकार का त्याग तथा इन्द्रिय और मन का निग्रह जितना सुदृढ़ होता है उतना ही समाधि प्रत्ययों का अनुभव होने लगता है।

यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिम्।
समाधिप्रत्ययाश्चाऽस्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा।।

तत्त्वानुशासन १७६

१२ अगस्त
२००६

स्वसंवित्ति का प्रत्यय

आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त है। पूरे शरीर का तात्पर्य है पूरे नाड़ी तंत्र में वह व्याप्त है। उसके ज्ञानात्मक प्रदेश सब स्थानों पर समान रूप से व्याप्त नहीं हैं। वे कहीं अधिक हैं कहीं स्वल्प। जहां आत्मा के प्रदेश सघन हैं, शरीर का वह प्रदेश चैतन्य केन्द्र (चेतना का केन्द्र) बन जाता है। कुछ आचार्य इसे मर्मस्थान कहते हैं–

बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवाः।

इन चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान करने से अनेक स्वसंवित्ति के प्रत्यय अनुभव में आते हैं।

एषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेः बहवः प्रत्ययाः किल।।

योगशास्त्र ६.८

१३ अगस्त
२००६

स्वसंवेदन (१)

जिस अवस्था में योगी ज्ञेय और ज्ञाता, दोनों की एकात्मकता का अनुभव करता है उसका नाम है स्वसंवेदन, आत्मानुभव।

स्वसंवेदन में ज्ञप्तिक्रिया (स्व और पर का अवबोध) के लिए किसी दूसरे करण (साधकतम) की अपेक्षा नहीं होती। इसका हेतु यह है कि स्वसंवेदन ज्ञप्तिरूप है।

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्॥
स्व-पर-ज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य करणान्तरम्।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्यैव वेद्यताम्॥

तत्त्वानुशासन १६१,१६२

१४ अगस्त
२००६

स्वसंवेदन (२)

जीव की दो अवस्थाएं होती हैं—१. बद्ध, २. मुक्त। कर्म के बंधन से बंधा हुआ जीव बद्ध अवस्था का अनुभव करता है और कर्म से मुक्त जीव मुक्तावस्था का अनुभव करता है।

बद्ध अवस्था में भी मुक्त अवस्था का अनुभव किया जा सकता है यदि भेद विज्ञान का प्रयोग कर आत्मा के द्वारा आत्मा की प्रेक्षा की जाए।

स्वसंवेदन के लिए आवश्यक है ज्ञस्वभाव आत्मा की प्रेक्षा करना और कर्मजनित समस्त भावों से अपनी भिन्नता का अनुभव करना।

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम्।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना।।
यस्मिन् मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितम्।
तन्मध्यस्थं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयम्।।

तत्त्वानुशासन १६४,१६५

१५ अगस्त
२००६

स्वसंवेदन (३)

आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है–'नो इन्द्रियगेज्झ अमुत्तभावा।' इन्द्रियों का विषय है स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द। आत्मा स्पर्श आदि से रहित है इसलिए वह उसका विषय नहीं बनता।

आत्मा वितर्क के द्वारा भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि तर्क भी अमूर्त को प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। तर्क मन का विषय है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा मन के द्वारा ज्ञेय नहीं है।

इन्द्रिय और मन, दोनों के द्वारा आत्मा का स्पष्ट दर्शन नहीं होता। अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही उसका स्पष्ट अनुभव होता है इसीलिए आत्मा का स्वरूप स्वसंवेद्य है और वह स्वसंवेदन के द्वारा ही गम्य बनता है।

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः।
वितर्कास्तन्न पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्ट-तर्कणाः।।
उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियम्।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्यैव दृश्यताम्।।

तत्त्वानुशासन १६६,१६७

१६ अगस्त
२००६

स्वसंवेदन (४)

संविति ज्ञानरूप चेतना है। शरीर से उसका प्रतिभास नहीं होता। वह स्वतंत्ररूप से अपने अस्तित्व का प्रतिभास करा देती है।

समाधि की अवस्था में यदि योगी को बोधात्मा का अनुभव नहीं होता तो वह ध्यान नहीं है, मूर्च्छा है।

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येन चकासतो।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि।।
समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्च्छावन्मोह एव सः।।

तत्त्वानुशासन १६८,१६९

१७ अगस्त
२००६

स्वसंवेदन (५)

एकाग्रता का प्रश्न एक जटिल समस्या है। बहुत लोग मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु वह किसी एक बिन्दु पर टिकता नहीं है। एकाग्रता के लिए श्वासदर्शन का आलंबन लिया जाता है। फिर भी निर्विचार अथवा निर्विकल्प की अवस्था निर्मित नहीं हो पाती। स्वसंवित्ति अथवा समाधि की अवस्था में आत्मानुभव होता है। उस समय परम एकाग्रता की स्थिति बन जाती है। जब योगी आत्मानुभव करता है उस समय बाह्य पदार्थों की उपस्थिति में भी उन पदार्थों का अनुभव नहीं होता, केवल स्वरूप का ही अनुभव होता है।

यथा निर्वात-देशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति।।
तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यत्र किंचणाऽऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः।।

तत्त्वानुशासन १७१,१७२

१८ अगस्त
२००६

ध्यान के चार प्रकार (१)

जैन आचार्यों ने ध्यान पर अनेकांत दृष्टि से विचार किया है। फलतः ध्यान की दो कोटियां बनती हैं–

प्रथम कोटि के दो ध्यान हैं–

१. आर्तध्यान

२. रौद्रध्यान

द्वितीय कोटि के दो ध्यान हैं–

१. धर्म्यध्यान

२. शुक्लध्यान

प्रथम दोनों ध्यान संसारभ्रमण के हेतु हैं और अंतिम दोनों निर्वाण के।

अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं।
निव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्टरुद्दाइं।।

झाणज्झयणं ५

१६ अगस्त
२००६

ध्यान के चार प्रकार (२)

आलम्बन के आधार पर ध्यान के चार प्रकार किए गए हैं–

१. पिण्डस्थ–शरीर का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान।

२. पदस्थ–मंत्रपदों का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान।

३. रूपस्थ–संस्थान (आकृतिविशेष) का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान।

४. रूपातीत–अरूप आत्मा का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान।

पिण्डस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं, रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः।।

योगशास्त्र ७.८

२० अगस्त
२००६

आर्तध्यान (१)

आर्तध्यान के चार प्रकार हैं। उनमें पहला प्रकार है अनिष्ट के वियोग का चिंतन और पुनः उसका संयोग न हो इसका अनुस्मरण का चिंतन।

शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के होते हैं। अमनोज्ञ का संयोग होने पर उनके वियोग के विषय में चिंतन करते रहना तथा उनका वियोग हो जाने पर पुनः उनका संयोग न हो ऐसा अनुस्मरण करते रहना, यह अप्रीतिप्रधान चिंतन मन को पीड़ित करता रहता है।

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स।
धणियं विओगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च।।

झाणज्झयणं ६

२१ अगस्त
२००६

आर्तध्यान (२)

शूल, शिरोरोग आदि वेदना के उत्पन्न होने पर उसके वियोग के विषय में चिंतन करते रहना तथा उपचार के बाद उसका अभाव होने पर पुनः वह वेदना न हो इस प्रकार के अध्यवसाय का निर्माण होना आर्तध्यान का वेदना प्रतिकार नामक दूसरा प्रकार है।

चिकित्सा के लिए मन आकुल हो जाता है। वह आकुलता मन को व्यथित करती रहती है। फलतः वह मानसिक व्यथा आर्तध्यान बन जाती है।

तह सूलसीसरोगाइवेयणाए वियोगपणिहाणं।
तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स।।

झाणज्झयणं ७

२२ अगस्त
२००६

आर्तध्यान (३)

इष्ट संयोग का चिंतन आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है। मनोज्ञ शब्द, रूप आदि के संयोग के लिए चिंतन करते रहना तथा प्राप्त हुए मनोज्ञ शब्द, रूप आदि का वियोग न हो, इस प्रकार मन को आकुल बनाए रखना आर्तध्यान है। इससे पदार्थ के प्रति होने वाली आसक्ति प्रगाढ़ हो जाती है और मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स।
अवियोगऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य।।

झाणज्झयणं ८

२३ अगस्त
२००६

आर्तध्यान (४)

निदान चिंतन आर्तध्यान का चौथा प्रकार है। वर्तमान जन्म मनुष्य लोक में, दूसरा जन्म स्वर्गलोक में और तीसरा जन्म पुनः मनुष्यलोक में। भावी दोनों जन्मों के लिए संकल्प करना 'मैं देवेन्द्र बनूं, चक्रवर्ती बनूं' यह निदान चिंतन है। इससे साधना गौण हो जाती है और पद, पूजा, प्रतिष्ठा प्रमुख बन जाती है।

देविंदचक्कवट्टित्तणाइं गुणरिद्धिपत्थणमईयं।
अहमं नियाणचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चंतं॥

झाणज्झयणं ९

२४ अगस्त
२००६

आर्तध्यान (५)

स्थानांग सूत्र में आर्तध्यान के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं। उनमें निदान का उल्लेख नहीं है।

१. अमनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (अमनोज्ञ विषय) के वियोग की चिंता में लीन हो जाना।

२. मनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने की चिंता में लीन हो जाना।

अमणुण्ण-संपओग-संपउत्ते, तस्स विप्पओग-संति-समण्णागते यावि भवति।

मणुण्ण-संपओग-संपउत्ते, तस्य अविप्पओगसति-समण्णागते यावि भवति।

ठाणं ४.६१

२५ अगस्त
२००६

आर्तध्यान (६)

३. आतंक (सद्योघाती रोग) के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग की चिंता में लीन हो जाना।

४. प्रीतिकर कामभोग के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग न होने की चिंता में लीन हो जाना।

आतंक-संपओग-संपउत्ते, तस्स विप्पओग-सति-समण्णागते यावि भवति।

परिजुसित-काम-भोग-संपओग-संपउत्ते, तस्स अविप्प-ओगसति-समण्णागते यावि भवति।

ठाणं ४.६१

२६ अगस्त
२००६

आर्तध्यान (७)

आर्तध्यान संसार रूपी वृक्ष का बीज है। संसार जन्म-मरण की परम्परा के तीन हेतु हैं–

१. राग

२. द्वेष

३. मोह

आर्तध्यान में ये तीनों होते हैं। इसलिए इसे संसार-वृक्ष का बीज कहा गया है।

आर्तध्यान करनेवाले व्यक्ति में मुख्यतया तीन लेश्याएं होती हैं, किन्तु वे बहुत संक्लिष्ट नहीं होतीं।

रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेतवो भणिया।
अट्टम्मि य ते तिण्णि वि तो तं संसारतरुबीजं।।
कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ।।

झाणज्झयणं १३,१४

२७ अगस्त
२००६

आर्तध्यान के लक्षण

आर्तध्यान के चार लक्षण बतलाए गए हैं–

१. क्रन्दता–आक्रन्द करना

२. शोचनता–शोक करना

३. तपनता–आंसू बहाना

४. परिदेवनता–विलाप करना।

इनसे पता लगता है कि वर्तमान में अमुक व्यक्ति आर्तध्यान में निविष्ट है।

इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग तथा वेदना की स्थिति में आर्तध्यान वाला व्यक्ति जो व्यवहार करता है, वे उसकी पहचान के हेतु बन जाते हैं।

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा–कंदणता, सोयणता, तिप्पणता, परिदेवणता।

ठाणं ४.६२

२८ अगस्त
२००६

आर्तध्यान का अधिकारी

आर्तध्यान के तीन हेतु हैं–

१. राग

२. द्वेष

३. मोह

राग, द्वेष और मोहयुक्त व्यक्ति आर्तध्यान का अधिकारी होता है।

आर्तध्यान तिर्यक् गति का मूल कारण है। हरिभद्र सूरि ने पांचवीं गाथा की वृत्ति में एक गाथा उद्धृत की है, इस प्रसंग में वह उल्लेखनीय है।

आर्तध्यान करनेवाला मनुष्य तिर्यञ्चगति में पैदा होता है। रौद्रध्यान करने वाला नरक गति में, धर्म्यध्यान करने वाला देवगति में और शुक्लध्यान करने वाला मोक्ष गति में जाता है।

एयं चउव्विहं रागदोससमोहं कियस्स जीवस्स।
अट्टज्झाणं संसारद्धणं तिरियगइमूलं।।

झाणज्झयणं १०

२६ अगस्त
२००६

क्या मुनि के आर्तध्यान होता है?

मुनि के आर्तध्यान होता है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर सापेक्ष दृष्टि से दिया गया है। जो मुनि राग, द्वेष और मोह का वशवर्ती है, उसके आर्तध्यान होता है।

जो मुनि मध्यस्थ है—राग–द्वेष का वशवर्ती नहीं है, रोग को अपने कर्म का परिणाम मानता है, जो वस्तु स्वभाव का चिंतन करता है और जो लोगों को समभाव से सहन करता है, उसके आर्तध्यान नहीं होता।

मज्झत्थस्स उ मुणिणो सकम्मपरिणामजणियमेयंति।
वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स समं सहंतस्स॥

झाणज्झयणं ११

३० अगस्त
२००६

रौद्रध्यान के लक्षण

रौद्रध्यान के चार लक्षण बतलाए गए हैं—

१. उत्सन्न दोष—प्रायः हिंसा आदि में प्रवृत्त रहना।

२. बहुदोष—हिंसादि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।

३. अज्ञान दोष—अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना।

४. आमरणान्तदोष—मरणान्तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।

रुद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—ओसण्णदोसे, बहुदोसे, अण्णाणदोसे, आमरणंतदोसे।

ठाणं ४.६४

३१ अगस्त
२००६

रौद्रध्यान (१)

रौद्रध्यान संक्लिष्ट चित्तवृत्ति का होता है। इसके चार प्रकार हैं—

१. हिंसानुबंधी—जिसमें हिंसा का अनुबंध (सतत प्रवर्तन) हो।

२. मृषानुबंधी—जिसमें मृषा का अनुबंध हो।

३. स्तेयानुबंधी—जिसमें चोरी का अनुबंध हो।

४. संरक्षणानुबंधी—जिसमें विषय के साधनों के संरक्षण का अनुबंध हो।

रोद्दे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—
हिंसाणुबंधि, मोसाणुबंधि, तेणाणुबंधि, सारक्खणाणु-बंधि।

ठाणं ४.६३

१ सितम्बर
२००६

रौद्रध्यान (२)

हिंसानुबंधी–इस ध्यान में व्यक्ति हिंसा में आनंद का अनुभव करता है, वह हिंसानन्द होता है। जीव को मारने के उपाय, दूसरे को दुःख देने के उपाय–इस प्रकार की प्रवृत्तियों में उसकी स्मृति बनी रहती है, संक्लिष्ट अध्यवसाय बना रहता है। इस प्रकार का व्यक्ति ताड़ना, अंगच्छेद करने में आनंद का अनुभव करता है। इसलिए इसे हिंसानन्द भी कहा जाता है।

सत्त्वव्यापादनोद्बन्धपरितापनताडनकरचरणश्रवण-नासिकाऽ-धरवृषणशिश्नादिच्छेदनस्वभावं हिंसानन्दम्। तत्र स्मृति-समन्वाहारो रौद्रध्यानम्।

तभा. २ पृ. २६७

२ सितम्बर
२००६

रौद्रध्यान (३)

अनृतानुबंधी–इस ध्यान में व्यक्ति प्रबल राग, द्वेष और मोह वाला होता है तथा कन्या, भूमि आदि के विषय में असत्य बोलता है। असभ्य, असद्भूत और हिंसा को उत्तेजना देने वाले वचन में एकाग्र चित्त रहता है। उसका वचन दूसरे के उपघात में प्रवृत्त रहता है। उसका आशय तीव्र रौद्रवाला होता है। इस वृत्ति वाले व्यक्ति को रुद्र परिणाम के कारण अनृतानन्द भी कहा जाता है।

प्रबलरागद्वेषमोहस्य अनृतप्रयोजनवत् कन्याक्षिति-निक्षेपापलापपिशुनासत्यासद्भूतघाताभिसन्धान-प्रवणमसदभि-धानमनृतं तत्परोपघातार्थमनुपरततीव्ररौद्राशयस्य स्मृतेः समन्वाहारः। तत्रैवं दृढ़प्रणिधानमनृतानन्दम्।

तभा २, पृ. २६७

३ सितम्बर
२००६

रौद्रध्यान (४)

स्तेयानुबंधी–रौद्रध्यान का तीसरा प्रकार है। जिसका अध्यवसाय तीव्र संक्लेशवाला होता है, जिसमें लोभ का संस्कार बहुत प्रबल होता है, जो पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता और जो दूसरे का धन लेने के लिए निरंतर सोचता रहता है, जिसका चित्त द्रव्य–हरण के उपायों की खोज करता रहता है, उस व्यक्ति का ध्यान रौद्रध्यान है।

स्तेयार्थं स्तेयप्रयोजनमधुनोच्यते। तीव्रसङ्क्लेशाध्यवसायस्य ध्यातुः प्रबलीभूतलोभप्रचाराहितसंस्कारस्य अपास्तपरलोकापेक्षस्य परस्वादित्सोरकुशलः स्मृतिसमन्वाहारः। द्रव्यहरणोपाय एव चेतसो निरोधः प्रणिधानमित्यर्थः।

तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी पृ. २६७

४ सितम्बर
२००६

रौद्रध्यान (५)

विषयसंरक्षणानुबंधी–रौद्रध्यान का चौथा प्रकार है। शब्द आदि विषयों के संरक्षण के लिए होने वाली लोभ की तीव्रता।

अप्राप्त परिग्रह के लिए निरंतर तीव्र आकांक्षा और नष्ट परिग्रह के लिए निरंतर शोक। प्राप्त विषयों की सुरक्षा के लिए तनाव और विषयों के उपभोग में तीव्र अतृप्ति।

तीव्र लोभ के कारण परिणामधारा निरन्तर तनावयुक्त रहती है। यह रौद्रध्यान नरकगति का मूल कारण है।

विषयपरिपालप्रयोजनं च भवति रौद्रध्यानम्।... परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु रक्षणमुपभोगे चावितृप्ति।... रौद्रध्यायिनः तीव्रसंक्लिष्टाः कापोतनील-कृष्णलेश्यास्तिस्रस्तदनुगमाच्च नरकगतिमूलमेतत्।

तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी पृ. २६७

५ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान के लक्षण

धर्म्यध्यान के चार लक्षण हैं—

१. आज्ञा-रुचि—प्रवचन में श्रद्धा होना।

२. निसर्ग-रुचि—सहज ही सत्य में रुचि होना।

३. सूत्र-रुचि—सूत्र पढ़ने के द्वारा सत्य में श्रद्धा उत्पन्न होना।

४. अवगाढ-रुचि—विस्तृत पद्धति से सत्य में श्रद्धा होना।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा— आणारुई, णिसग्गरुई, सुत्तरुई, ओगाढरुई।

ठाणं ४.६६

६ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान के प्रकार

धर्म्यध्यान—आज्ञा विचय, विपाक विचय, अपाय विचय और संस्थान विचय के लिए किया जाने वाला स्मृति-समन्वाहार।

विचय का अर्थ है पर्यालोचना। विचय के लिए स्मृति का सम्यक् नियोजन करना। ध्येय (ध्यातव्य विषय) के आधार पर धर्म्यध्यान के चार प्रकार बन गए हैं—

१. आज्ञा विचय

२. अपाय विचय

३. विपाक विचय

४. संस्थान विचय

धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते, तं जहा—आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए।

ठाणं ४.६५

७ सितम्बर

२००६

धर्म्यध्यान : आज्ञा विचय (१)

आज्ञा विचय—आगम में निरूपित तथ्यों का चिंतन करना।

धर्म्यध्यान का प्रथम ध्येय विषय है—आज्ञा विचय। इसमें प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा प्रतिपादित सभी तत्त्व ध्याता के लिए ध्येय बन जाते हैं। ध्यान का अर्थ तत्त्व की विचारणा नहीं है। उसका अर्थ है तत्त्व का साक्षात्कार। धर्म्यध्यान करने वाले आगम में निरूपित तत्त्वों का आलम्बन लेकर उनका साक्षात्कार करने का प्रयत्न करते हैं।

८ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान : आज्ञा विचय (२)

धर्म का संधान करने वाले तथा वीतरागता के अभिमुख व्यक्ति को अरति अभिभूत नहीं कर पाती।

साधक विषयों का त्याग कर संयम में रमण करता है। साधना-काल में प्रमाद, कषाय आदि समय-समय पर उभरते हैं और उसे विषयाभिमुख बना देते हैं। किंतु जागरूक साधक धर्म की धारा को मूल स्रोत (आत्म-दर्शन) से जोड़कर आत्मानुशासन करता रहता है।

संधेमाणे समुट्ठिए।

आयारो ६.७१

६ सितम्बर

२००६

धर्म्यध्यान : आज्ञा विचय (३)

आज्ञा विचय का तात्पर्य है—सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आज्ञा—आगम के विषय में चिंतन करना।

द्रव्य अनन्त पर्याययुक्त है। वह त्रयात्मक है— उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। यह हेतुगम्य नहीं है, आज्ञा सिद्ध है। आज्ञा विचय का प्रयोग करने वाला साधक ध्यान के द्वारा सूक्ष्म तत्त्वों को जानने का अभ्यास करता है।

अनन्तगुणपर्यायसंयुतं तत्त्रयात्मकम्।
त्रिकालविषयं साक्षाज्जिनाज्ञासिद्धमामनेत्॥

ज्ञानार्णव ३३.७

१० सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान : अपाय विचय (१)

जो मनुष्य राग, द्वेष, कषाय, आश्रव तथा प्राणातिपात आदि क्रियाओं में जी रहे हैं, वे एहलौकिक और पारलौकिक, दोनों प्रकार के अपायों को निमंत्रण दे रहे हैं।

राग, द्वेष और कषाय के द्वारा क्या-क्या अपाय होते हैं, इस विषय में दत्तचित्त होना और अपायों की खोज करना।

दुःख और दुःख के कारणों की खोज करना।

रागद्दोसकसायाऽऽसवादिकिरियासु वट्टमाणाणं।
इह-परलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी।।

झाणज्झयणं ५०

११ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान : अपाय विचय (२)

अपाय का अर्थ है—कर्मबंध। बंध का मोक्ष कैसे हो सकता है? इस विषय में चिंतन करना अपाय-विचय है। आचार्य शुभचंद्र ने अपाय के साथ उपाय का उल्लेख किया है। अपाय का चिंतन करने के साथ ही उपाय का भी चिंतन करना चाहिए।

जब तक बाह्य वस्तुओं के साथ ममत्व का संबंध है, तब तक कर्मबंध का निरोध नहीं हो सकता। इस प्रकार का चिंतन उपाय है।

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः।।
यावद्यावच्च संबन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा।।

ज्ञानार्णव ३४.१,१४

१२ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान : अपाय विचय (३)

जो मनुष्य विषय-वासना से पीड़ित है वह ज्ञान और दर्शन से दरिद्र है। वह सत्य को सरलता से समझ नहीं पाता, अतः अज्ञानी बना रहता है। वह इस लोक में व्यथा का अनुभव करता है।

अट्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे अविजाणए।।
अस्सिं लोए परिव्वए।।

आयारो १.१३,१४

१३ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान : विपाक विचय (१)

धर्म्यध्यान का तीसरा ध्येय विषय है कर्म-विपाक।

कर्म के चार प्रकार हैं—१. प्रकृति, २. स्थिति, ३. अनुभाग तथा ४. प्रदेश। वह शुभ और अशुभ दो रूपों में विभक्त है। मनयोग, वचनयोग और काययोग से उसका बंध होता है। इस प्रकार कर्म को ध्येय बनाकर चित्त की एकाग्रता करना विपाक विचय है।

पयइ-ठिइ-पएसाऽणुमावभिन्नं सुहासुहविहत्तं।
जोगाणुभावजणियं कम्मविवागं विचिंतेज्जा।।

झाणज्झयणं ५१

१४ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान : विपाक विचय (२)

जो अरति (चैतसिक उद्‌वेग) का निवर्तन करता है, वह मेधावी होता है। संयम में रति और असंयम में अरति से चैतन्य और आनंद का विकास होता है।

संयम में अरति और असंयम में रति करने से उसका ह्रास होता है; इसलिए साधक को यह निर्देश दिया है कि वह संयम में होने वाली अरति का निवर्तन करे।

अरइं आउट्टे से मेहावी।

आयारो २.२७

१५ सितम्बर

२००६

धर्म्यध्यान : विपाक विचय (३)

कर्म की प्रथम अवस्था है बंध और अंतिम अवस्था है विपाक अथवा उदय। कर्म का विपाक प्रतिक्षण होता रहता है और वह अनेक प्रकार का होता है।

कर्म का विपाक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सापेक्ष है। तात्पर्य की भाषा में कर्म के विपाक में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव निमित्त बनते हैं।

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम्।।
कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम्।
आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम्।।

ज्ञानार्णव ३५.१,२

१६ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान : संस्थान विचय

धर्म्यध्यान का चौथा ध्येय विषय है—संस्थान विचय। यह आकृति–विषयक आलम्बन है। इसमें एक परमाणु से लेकर विश्व के अशेष द्रव्यों के संस्थान ध्येय बनते हैं।

संस्थान एक सूचक शब्द है। इस ध्यान में द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का पर्यायालोचन किया जाता है।

जिणदेसियाइ लक्खणसंठाणाऽऽसणविहाणमाणाइं।
उप्पायठिइभंगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं।।

झाणज्झयणं ५२

१७ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान : आलम्बन

ध्यान से पूर्व ध्येय का ज्ञान करना आवश्यक है। उस ज्ञान की प्रक्रिया में चार आलम्बनों का निर्देश दिया गया है–

१. वाचना–पढ़ाना।

२. प्रतिप्रच्छना–शंका निवारण के लिए प्रश्न करना।

३. परिवर्तना–पुनरावर्तन करना।

४. अनुप्रेक्षा–अर्थ का चिंतन करना।

कोई व्यक्ति विषम स्थल में आरोहण करते समय रस्सी का सहारा लेता है। वैसे ही धर्म्यध्यान में आरोहण करने के लिए वाचना आदि का आलम्बन लिया जाता है।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा– वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा।

ठाणं ४.६७

विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।
सुत्ताइकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ।।

झाणज्झयणं ४३

१८ सितम्बर

२००६

धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षा

धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं–

१. एकत्व अनुप्रेक्षा–अकेलेपन का चिंतन करना।

२. अनित्य अनुप्रेक्षा–पदार्थों की अनित्यता का चिंतन करना।

३. अशरण अनुप्रेक्षा–अशरण दशा का चिंतन करना।

४. संसार अनुप्रेक्षा–संसार परिभ्रमण का चिंतन करना।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।

ठाणं ४.६८

१६ सितम्बर
२००६

धर्म्यध्यान का फल

धर्म्यध्यान वैराग्य और अनासक्ति की चेतना को जगाने वाला है। इससे ध्याता को अतीन्द्रिय-सुख मिलता है। जो सुख इन्द्रिय-संवेदनों से नहीं मिलता, वह सुख धर्म्यध्यान के परिपक्व होने पर मिलता है।

वह सुख स्वसंवेद्य होता है, उसका स्वयं अनुभव किया जा सकता है, दूसरे को बताया नहीं जा सकता।

अस्मिन् नितान्त-वैराग्य-व्यतिषंगतरंगिते।
जायते देहिनां सौख्यं, स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम्॥

योगशास्त्र १०.१७

२० सितम्बर
२००६

शुक्लध्यान

धर्म्यध्यान से अगला चरण है शुक्ल ध्यान। जैसे मैल के दूर हो जाने पर वस्त्र शुक्ल हो जाता है, वैसे ही कषाय मल से रहित आत्मा का अपने शुद्ध स्वभाव में होने वाला परिणमन भी शुद्ध है।

शुक्लध्यान में शुद्ध आत्मा का ध्यान मुख्य होता है। यह निर्मल और निष्प्रकंप अवस्था है। इसकी योग्यता कषायरज के उपशम अथवा क्षय से प्राप्त होती है।

शुचिगुण-योगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा।
माणिक्य-शिखा-वदिदं सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च।।

तत्त्वानुशासन २२२

२१ सितम्बर
२००६

शुक्लध्यान के लक्षण

शुक्लध्यान के चार लक्षण हैं—

१. अव्यथ—क्षोभ का अभाव।

२. असम्मोह—सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढ़ता का अभाव।

३. विवेक—शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान।

४. व्युत्सर्ग—शरीर और उपधि में अनासक्त भाव।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा— अव्वहे, असम्मोहे, विवेगे, विउस्सगे।

ठाणं ४.७०

२२ सितम्बर
२००६

शुक्लध्यान के चार प्रकार (१)

शुक्लध्यान के चार चरण हैं–

१. पृथक्त्ववितर्क–सविचारी

२. एकत्ववितर्क–अविचारी

३. सूक्ष्मक्रिय–अनिवृत्ति

४. समुच्छिन्नक्रिय–अप्रतिपाति

इनमें प्रथम दो चरणों–पृथक्त्ववितर्क–सविचारी और एकत्ववितर्क–अविचारी के अधिकारी श्रुतकेवली (चतुर्दशपूर्वी) होते हैं। इस ध्यान में सूक्ष्म द्रव्यों और पर्यायों का आलम्बन लिया जाता है, इसलिए सामान्य श्रुतधर इसे प्राप्त नहीं कर सकते। अंतिम दो चरणों– सूक्ष्मक्रिय–अनिवृत्ति और समुच्छिन्नक्रिय–अप्रतिपाति के अधिकारी केवली होते हैं।

२३ सितम्बर
२००६

शुक्लध्यान के चार प्रकार (२)

पृथक्त्ववितर्क–सविचारी–

जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों–नयों से चिंतन किया जाता है और पूर्व–श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहां शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन और काया में से एक–दूसरे में संक्रमण किया जाता, शुक्लध्यान की इस स्थिति को पृथक्त्ववितर्क–सविचारी कहा जाता है।

एकत्ववितर्क–अविचारी–

जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद दृष्टि से चिंतन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलंबन लिया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ एवं मन, वचन, काया में से एक–दूसरे में संक्रमण नहीं किया जाता, शुक्लध्यान की इस स्थिति को एकत्ववितर्क–अविचारी कहा जाता है।

२४ सितम्बर
२००६

शुक्लध्यान के चार प्रकार (३)

सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति-

जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध होता है तथा श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया शेष रहती है उस अवस्था को सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है। इसका निवर्तन-ह्रास नहीं होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति-

जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है, इस अवस्था को समुच्छिन्नक्रिय कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाति है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने हरिभद्रसूरिकृत योगबिन्दु के आधार पर शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों की तुलना संप्रज्ञात समाधि से की है। शेष दो चरणों की तुलना असंप्रज्ञात समाधि से की है।

२५ सितम्बर
२००६

शुक्लध्यान के आलम्बन

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं–

१. क्षान्ति–क्षमा

२. मुक्ति–निर्लोभता

३. आर्जव–सरलता

४. मार्दव–मृदुता।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा– खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे।

ठाणं ४.७१

२६ सितम्बर
२००६

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षा

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं–

१. अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा–संसार परम्परा का चिंतन करना।

२. विपरिणाम अनुप्रेक्षा–वस्तुओं के विविध परिणामों का चिंतन करना।

३. अशुभ अनुप्रेक्षा–पदार्थों की अशुभता का चिंतन करना।

४. अपाय अनुप्रेक्षा–दोषों का चिंतन करना।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–अणंतवत्तियाणुप्पेहा, विप्परिणामाणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अवायाणुप्पेहा।।

ठाणं ४.७२

२७ सितम्बर
२००६

तैजसलब्धि (कुंडलिनी योग)

योग की चर्चा में कुंडलिनी का सर्वोपरि महत्त्व है। जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में कुंडलिनी का प्रयोग नहीं मिलता, उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। यह तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य में कुंडलिनी का नाम है—तैजसलब्धि। अग्निज्वाला के समान लालवर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम है—तैजसलब्धि।

२८ सितम्बर
२००६

कायोत्सर्ग का उद्देश्य

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है आत्मा का शरीर से वियोजन। शरीर के साथ आत्मा का जो संयोग है, उसका मूल है प्रवृत्ति। जो इनका विसंयोग चाहता है अर्थात् आत्मा के सान्निध्य में रहना चाहता है, वह स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा 'स्व' का व्युत्सर्ग करता है।

स्थान—काया की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—काय-गुप्ति।

मौन—वाणी की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—वाक्-गुप्ति।

ध्यान—मन की प्रवृत्ति का एकाग्रीकरण—मनो-गुप्ति।

कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है, शेष प्रवृत्ति का निरोध किया जाता है।

कायस्य शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण अन्यत्र उच्छ्वसितादिभ्यः क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य य उत्सर्गस्त्यागो 'णमो अरहंताणं' इति वचनात् प्राक् स कायोत्सर्गः।

योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५०

२६ सितम्बर
२००६

कायोत्सर्ग–विधि

जो कायोत्सर्ग करना चाहे, वह काया से निस्पृह होकर खंभे की भांति सीधा खड़ा हो जाए। दोनों बांहों को घुटनों की ओर फैला दे, प्रशस्त ध्यान में निमग्न हो जाए। शरीर को अकड़ कर और झुकाकर न खड़ा हो। परीषह और उपसर्गों को सहन करे। जीव–जन्तु–रहित एकांत स्थान में खड़ा रहे और मुक्ति के लिए कायोत्सर्ग करे।

कायः, शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्यागः.........। तत्र शरीर–निःस्पृहः, स्थाणुरिवोर्द्धवकायः प्रलंबितभुजः, प्रशस्तध्यान – परिणतोऽनुन्नमितानतकायः, परीषहानुपसर्गाश्च सहमानः तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे।

मूलाराधना २.११६, विजयोदया पृ. २७८

३० सितम्बर
२००६

कायोत्सर्ग (१)

कायोत्सर्ग में चतुर्विंशति-स्तव का ध्यान किया जाता है। उसके सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं। एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। कायोत्सर्ग-काल में सातवें श्लोक के प्रथम चरण 'चंदेसु निम्मलयरा' तक ध्यान किया जाता है। इस प्रकार एक 'चतुर्विंशतिस्तव' का ध्यान पचीस उच्छ्वासों में सम्पन्न होता है।

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
१. दैवसिक	४	२५	१००	१००
२. रात्रिक	२	१२½	५०	५०
३. पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
४. चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००
५. साम्वत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८

प्रवचनसारोद्धार गाथा १८३-१८५

१ अक्टूबर
२००६

कायोत्सर्ग (२)

कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं–

१. चेष्टा-कायोत्सर्ग–अतिचार शुद्धि के लिए जो किया जाता है।

२. अभिभव-कायोत्सर्ग–विशेष विशुद्धि या प्राप्त कष्ट को सहने के लिए जो किया जाता है।

चेष्टा-कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधृत है। विभिन्न प्रयोजनों से वह आठ, पचीस, सत्ताईस, तीन सौ, पांच सौ और एक हजार आठ उच्छ्वास तक किया जाता है।

अभिभव-कायोत्सर्ग का काल जघन्यतः अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष का कायोत्सर्ग किया था।

सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे विइओ।।

आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४५२

तत्र चेष्टा कायोत्सर्गोष्ट–पंचविंशति–सप्तविंशति–त्रिशती–पंचशती अष्टोत्तरसहस्रोच्छ्वासान् यावद् भवति। अभिभव-कायोत्सर्गस्तु मुहूर्त्तादारभ्य संवत्सरं यावद् बाहुबलेरिव भवति।

योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५०

२ अक्टूबर

२००६

कायोत्सर्ग (३)

कायोत्सर्ग चार प्रकार का होता है–

१. उपविष्ट-उपविष्ट–जो बैठकर कायोत्सर्ग करता है और आर्त या रौद्र ध्यान में लीन होता है, वह काया और ध्यान–दोनों से बैठा हुआ होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उपविष्ट-उपविष्ट' कहा जाता है।

२. उपविष्ट-उत्थित–जो बैठकर कायोत्सर्ग करता है और धर्म्य या शुक्लध्यान में लीन होता है, वह काया से बैठा हुआ होता है और ध्यान से खड़ा होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उपविष्ट-उत्थित' कहा जाता है।

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते।
उपविष्टोपविष्टाख्या, कथ्यते सा तनूत्सृतिः।।
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते।
उपविष्टोत्थितां संतस्तां वदंति तनूत्सृतिम्।।

श्रावकाचार ५८,५६

३ अक्टूबर
२००६

कायोत्सर्ग (४)

३. उत्थित-उपविष्ट—जो खड़ा-खड़ा कायोत्सर्ग करता है, किन्तु आर्त और रौद्रध्यान से अवनत होता है, वह काया से खड़ा हुआ होता है और ध्यान से बैठा हुआ होता है, इसलिए उसके ध्यान को 'उत्थित-उपविष्ट' कहा जाता है।

४. उत्थित-उत्थित—जो खड़ा-खड़ा कायोत्सर्ग करता है और धर्म्य या शुक्लध्यान में लीन होता है, वह काया से भी उन्नत होता है और ध्यान से भी उन्नत होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उत्थित-उत्थित' कहा जाता है।

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुत्थितोपविष्टाह्वं निगदंति महाधियः।।
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
उत्थितोत्थितनामानं, तं भाषंते विपश्चितः।।

श्रावकाचार, ६०,६१

४ अक्टूबर
२००६

कायोत्सर्ग (५)

तनाव की अवस्था में सहनशक्ति कम हो जाती है। शिथिलीकरण की अवस्था में सहनशक्ति बढ़ती है।

जीवन में कष्ट और उपसर्ग आते रहते हैं, साधक के जीवन में कभी देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्च-पशुपक्षीकृत कष्ट उग्र बनकर आते हैं।

अभिभव कायोत्सर्ग करनेवाला साधक इन सब कष्टों को समभाव से सह लेता है।

तिविहाणुवसग्गाणं दिव्वाणं माणुसाण तिरियाणं।
सम्ममहियासणाए काउस्सग्गो हवइ सुद्धो।।

झाणज्झयणं ७७

५ अक्टूबर
२००६

कायोत्सर्ग (६)

कायोत्सर्ग केवल शिथिलीकरण की साधना नहीं है। शिथिलीकरण के साथ ममत्व का विसर्जन किया जाता है, तब कायोत्सर्ग परिपूर्ण होता है।

कायोत्सर्ग करने वाले को निर्देश दिया गया है–'शरीर भिन्न है आत्मा भिन्न है' इस प्रकार भेद विज्ञान की चेतना जाग्रत करो। इस चेतना के जाग्रत होने पर शरीर के प्रति होने वाले ममत्व का विसर्जन हो जाता है।

अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एव कयबुद्धी।
दुक्खपरिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ।।

झाणज्झयणं ८०

६ अक्टूबर
२००६

कायोत्सर्ग (७)

जो साधक लम्बे समय तक ऊर्ध्व (खड़े-खड़े) कायोत्सर्ग करता है, उस अवस्था में उसके अंग-प्रत्यंग टूटने लग जाते हैं।

कर्म का बंधन बहुत दृढ़ होता है। उसे साधारण तप से नहीं तोड़ा जा सकता। किन्तु कायोत्सर्ग के द्वारा उस बंधन को तोड़ा जा सकता है।

जैसे करवत काठ को चीर डालती है वैसे ही सुविहित साधु कायोत्सर्ग के द्वारा कर्म-काष्ठ को चीर डालता है।

काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइ।
इय भिंदंति सुविहिया अट्ठविहं कम्मसंघायं।।
जह करगओ निकिंतइ दारु इंतो पुणोवि वच्चंतो।
इअ कंतंति सुविहिया काउस्सग्गेण कम्माइं।।

आवश्यक भाष्य गाथा २३७

७ अक्टूबर
२००६

कायोत्सर्ग और प्रायश्चित्त

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की आराधना में छलना होने पर प्रायश्चित्त स्वरूप १०८ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग करते समय यदि उच्छ्वासों की संख्या विस्मृत हो जाए अथवा मन विचलित हो जाए तो आठ उच्छ्वास का अतिरिक्त कायोत्सर्ग करना चाहिए।

८ अक्टूबर
२००६

कायोत्सर्ग का फल

भंते! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है?

कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तोचित कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भारवाहक की भांति स्वस्थ हृदय वाला–हल्का हो जाता है और प्रशस्त–ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है।

काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्ध-पायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे पसत्थझाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ।।

उत्तरज्झयणाणि २६.१३

९ अक्टूबर
२००६

तपोयोग का फल

भंते! तप से जीव क्या प्राप्त करता है?

तप से जीव व्यवदान—पूर्वसंचित कर्मों को क्षीण कर विशुद्धि को प्राप्त होता है।

मुक्ति के दो साधन हैं—संवर और निर्जरा (तप)। संवर के द्वारा कर्मबंध का निरोध होता है और निर्जरा (तपोयोग) द्वारा पूर्व अर्जित कर्म का शोधन।

तवेणं भंते! जीवे किं जणयइ?
तवेणं वोदाणं जणयइ॥

उत्तरज्झयणाणि २९.२८

१० अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय

चेतना के विकास का पहला स्तर है–इन्द्रिय। इन्द्रिय-चेतना के पांच स्रोत हैं–

१. स्पर्शनेन्द्रिय–इससे स्पर्श का संवेदन होता है।

२. रसनेन्द्रिय–इससे रस का संवेदन होता है।

३. घ्राणेन्द्रिय–इससे गंध का संवेदन होता है।

४. चक्षुरिन्द्रिय–इससे रूप का संवेदन होता है।

५. श्रोत्रेन्द्रिय–इससे शब्द का संवेदन होता है।

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि।

जैन सिद्धांत दीपिका २.३५

११ अक्टूबर
२००६

मन

चेतना के विकास का दूसरा स्तर है—मन। वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषयों का ग्रहण होता है। उनका संकलन मन के द्वारा होता है। इसलिए मन संकलनात्मक संज्ञान है। वह त्रैकालिक संज्ञान है, इसलिए अतीत की स्मृति, वर्तमान में चिंतन और भविष्य की कल्पना इसका कार्य है।

इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं संज्ञानं मनः।

मनोनुशासनम् १.२

१२ अक्टूबर
२००६

चित्त

चेतना के विकास का तीसरा स्तर है—चित्त। चित्त का अर्थ चेतना। वह चेतना जिससे द्रव्यमन भावमन बन जाता है—पौद्‌गलिक मन ज्ञानात्मक बन जाता है।

चित्त स्थूल शरीर के साथ काम करने वाली चेतना है। जैसे मन चंचल होता है वैसे ही चित्त भी चंचल होता है। जैसे मन को एकाग्र किया जा सकता है वैसे ही चित्त को भी एकाग्र किया जा सकता है।

मन सब प्राणियों के नहीं होता, चित्त सब प्राणियों के होता है।

चित्तं चेयणभावे चेव भण्णइ।

दसवे. जिचू पृ. १३५

एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

दसवेआलियं ९.४.२

पुढवी चित्तमंतमक्खाया।

दसवेआलियं ४.४

१३ अक्टूबर
२००६

बुद्धि

चेतना के विकास का चौथा स्तर है—बुद्धि। वह पौद्गलिक नहीं है। पुद्गल का लक्षण है—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श।

बुद्धि में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का अस्तित्व नहीं है।

अह भंते! उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मया, पारिणामिया—एस णं कतिवण्णा जाव कतिफासा पण्णत्ता?

गोयमा! अवण्णा, अगंधा, अरसा, अफासा पण्णत्ता।

भगवई १२.१०६

१४ अक्टूबर
२००६

भाव

चेतना के विकास का पांचवां स्तर है—भाव। हमारा सूक्ष्म जगत् स्पन्दनों का जगत् है। चेतना और कर्मशरीर के स्पन्दन निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं। वे तैजस शरीर से सम्पर्क कर विद्युत् रश्मियों के रूप में बदल जाते हैं। वे स्थूल शरीर में प्रविष्ट होकर आकार ग्रहण करते हैं, उस अवस्था का नाम है—भाव।

शरीर, वाणी और मन—इन सबका संचालक भाव होता है और उससे बुद्धि भी प्रभावित होती है।

१५ अक्टूबर

२००६

इन्द्रिय-विजय का रहस्य

इन्द्रियां ग्राहक हैं। विषय उनके ग्राह्य हैं। वे अपने-अपने विषय का ग्रहण करती हैं। उन्हें रोकने का प्रयत्न मत करो।

इन्द्रियों को अपना-अपना विषय ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त मत करो।

इस साधना के द्वारा शीघ्र ही परमात्म-तत्त्व प्रकाशित हो जाता है।

गृह्णन्ति ग्राह्याणि स्वानि स्वानीन्द्रियाणि नो रुध्यात्।
न खलु प्रवर्तयेद् वा, प्रकाशते तत्त्वमचिरेण।।

योगशास्त्र १२.२६

१६ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१)

रूप चक्षु का ग्राह्य–विषय है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

चक्षु रूप का ग्रहण करता है। रूप चक्षु का ग्राह्य है। जो रूप राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।।
रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति, चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.२२,२३

१७ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (२)

जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त–उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरों की वस्तुएं चुरा लेता है।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप तथा परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्ति–दोष के कारण उसके माया–मृषा की वृद्धि होती है। माया–मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं।।
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.२६,३०

१८ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (३)

जो रूप में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

रूप से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.३३,३४

१९ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (४)

शब्द श्रोत्र का ग्राह्य–विषय है। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है। शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।।
सद्दस्स सोयं गहणं वयंति, सोयस्स सद्दं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.३५,३६

२० अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (५)

जो शब्द में अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरे की शब्दवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और शब्द परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं।।
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.४२,४३

२१ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (६)

जो शब्द में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्तवाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणामकाल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

शब्द से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होई दुहं विवागे।।
सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.४६,४७

२२ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (७)

गन्ध–घ्राण का ग्राह्य–विषय है। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

घ्राण गंध का ग्रहण करता है। गन्ध घ्राण का ग्राह्य है। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।
गंधस्स घाणं गहणं वयंति, घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.४८,४९

२३ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (८)

जो गन्ध में अतृप्त होता है उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की गन्धवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और गन्ध परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

गंधे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं।।
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थापि दुक्खा न विमुच्चई से।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.५५,५६

२४ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (६)

इसी प्रकार जो गन्ध में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेषयुक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बंध करता है। वही परिणाम काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

गन्ध से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

एमेव गंधम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.५६,६०

२५ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१०)

रस रसना का ग्राह्य विषय है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

रसना रस का ग्रहण करती है। रस रसना का ग्राह्य है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

जिहाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।।
रसस्स जिब्भं गहणं वयंति, जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.६१,६२

२६ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (११)

जो रस में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की रसवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रस-परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

रसे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं।।
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.६८,६९

२७ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१२)

इसी प्रकार जो रस में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष–युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम–काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

रस से विरक्त मनुष्य शोक–मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

एमेव रसम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
रसे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.७२,७३

२८ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१३)

स्पर्श काय का ग्राह्य–विषय है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

काय स्पर्श का ग्रहण करती है। स्पर्श काय का ग्राह्य है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।।
फासस्स कायं गहणं वयंति, कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.७४,७५

२६ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१४)

जो स्पर्श में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की स्पर्शवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और स्पर्श-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

फासे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेई तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं।।
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.८१,८२

३० अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१५)

इसी प्रकार जो स्पर्श में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेषयुक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बंध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

स्पर्श से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होता।

एमेव फासम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
फासे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.८५,८६

३१ अक्टूबर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१६)

भाव मन का ग्राह्य–विषय है। जो भाव राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ भावों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

मन भाव का ग्रहण करता है। भाव मन का ग्राह्य है। जो भाव राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

मणस्स भावं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।।
भावस्स मणं गहणं वयंति, मणस्स भावं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.८७,८८

१ नवम्बर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१७)

जो भाव में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की वस्तुएं चुरा लेता है।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और भाव-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

भावे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेई तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं।।
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.९४,९५

२ नवम्बर
२००६

इन्द्रिय चेतना : विषय और विकार (१८)

इसी प्रकार जो भाव में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष–युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम–काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

भाव से विरक्त मनुष्य शोक–मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होता।

एमेव भावम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.९८,९९

३ नवम्बर
२००६

इन्द्रिय-विजय का फल (१)

भंते! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह शब्द सबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सोइंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

सोइंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

उत्तरज्झयणाणि २९.६३

४ नवम्बर
२००६

इन्द्रिय-विजय का फल (२)

भंते! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रूप सबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला पूर्व-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

चक्खिदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

चक्खिदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रूवेसु रागदोस-निग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

उत्तरज्झयणाणि २९.६४

५ नवम्बर
२००६

इन्द्रिय-विजय का फल (३)

भंते! घ्राण-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह गंध सबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला पूर्व-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

घाणिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

घाणिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

उत्तरज्झयणाणि २६.६५

६ नवम्बर

२००६

इन्द्रिय-विजय का फल (४)

भंते! जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रस-सबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला पूर्व-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

जिब्भिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

जिब्भिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

उत्तरज्झयणाणि २६.६६

७ नवम्बर

२००६

इन्द्रिय-विजय का फल (५)

भंते! स्पर्श-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह स्पर्श सबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला पूर्व-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

फासिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

फासिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

उत्तरज्झयणाणि २९.६७

८ नवम्बर
२००६

संकल्प–विकल्प का नाश

जितने प्रकार के शब्द आदि इन्द्रिय–विषय हैं, वे सब विरक्त मनुष्य के मन में मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं करते।

इस प्रकार जो समता को प्राप्त हो जाता है, उसके संकल्प और विकल्प नष्ट हो जाते हैं। जो अर्थों–इन्द्रिय–विषयों का संकल्प नहीं करता, उसके कामगुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुण्णयं वा, निव्वत्तयंती अमणुण्णायं वा।
एवं ससंकप्पविकप्पणासो, संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे असंकप्पयतो तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा।।

उत्तरज्झयणाणि ३२.१०६,१०७

६ नवम्बर
२००६

मन

निर्विकल्प मन तत्त्व है—आत्मरूप या चैतन्यरूप है। विकल्पजाल में उलझा हुआ मन तत्त्व से दूर चला जाता है। इसलिए साधक को निर्विकल्प रहने का अभ्यास करना चाहिए।

इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने वाला मन चंचलता की भूमि में परिसंचरण करता है और निर्विकल्प अवस्था में मन का उद्भव नहीं होता, वह चेतना में विलीन रहता है।

निर्विकल्पं मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिद्रुतम्।
निर्विकल्पमतः कार्यं सम्यक्तत्त्वस्य सिद्धये।।

ज्ञानार्णव ३२.५०

१० नवम्बर
२००६

मन का उत्पाद

मन स्थायी तत्त्व नहीं है। प्रयोजनवश वह उत्पन्न होता रहता है। इस विषय में भगवती का एक सूत्र मननीय है—भंते! क्या पहले मन होता है? क्या मनन के समय मन होता है? क्या मनन का समय व्यतिक्रान्त होने पर मन होता है?

गौतम! पहले मन नहीं होता, मनन के समय मन होता है, मनन का समय व्यतिक्रांत होने पर मन नहीं होता।

पुव्विं भंते! मणे? मणिज्जमाणे मणे? मणसमय-वीतिक्कंते मणे?

गोयमा! नो पुव्विं मणे, मणिज्जमाणे मणे, नो मणसमय-वीतिक्कंते मणे।

भगवती १३.१२६

११ नवम्बर
२००६

एक समय में एक मन

एक क्षण में मानसिक ज्ञान एक ही होता है। यह सिद्धांत जैन-दर्शन को आगम-काल से ही मान्य रहा है।

जैन-दर्शन के अनुसार एक क्षण में दो उपयोग (ज्ञान-व्यापार) एक साथ नहीं होते, इसलिए एक क्षण में मानसिक ज्ञान एक ही होता है।

एगे मणे देवासुरमणुयाणं तंसि तंसि समयंसि।

ठाणं १.४१

१२ नवम्बर
२००६

मन चंचल है

मन प्रवृत्त्यात्मक है इसलिए वह प्रकृति से चंचल है। मन की प्रवृत्ति भाव के अनुरूप होती है। जैसा भाव वैसी मन की प्रवृत्ति। भाव स्वयं परिणमनशील है। परिणमन का अर्थ है परिवर्तन। भाव बदलता रहता है और उसके आधार पर मन भी बदलता रहता है। तात्पर्य यह है कि मन की चंचलता भाव परिवर्तन के साथ जुड़ी हुई है।

मन की चंचलता को भावशुद्धि के द्वारा कम किया जा सकता है।

१३ नवम्बर
२००६

पौद्गलिक मन

मन के दो रूप हैं–

१. पौद्गलिक

२. ज्ञानात्मक

पौद्गलिक मन द्रव्य मन और ज्ञानात्मक मन भाव मन कहलाता है।

पौद्गलिक मन के विषय में एक उपयोगी संवाद मिलता है।

भंते! क्या मन आत्मा है? क्या मन आत्मा से अन्य है?

गौतम! मन आत्मा नहीं है। मन आत्मा से अन्य है।

भंते! क्या मन रूपी है? क्या मन अरूपी है?

गौतम! मन रूपी है। मन अरूपी नहीं है।

भंते! क्या मन सचित्त है? क्या मन अचित्त है?

गौतम! मन सचित्त नहीं है, मन अचित्त नहीं है।

भंते! क्या मन जीव है? क्या मन अजीव है?

गौतम! मन जीव नहीं है, मन अजीव है।

आया भंते! मणे? अण्ण मणे?

गोयमा! नो आया मणे, अण्णे मणे।

भगवती १३.१२६

१४ नवम्बर
२००६

ज्ञानात्मक मन

मन चैतन्य के विकास का एक स्तर है, इसलिए ज्ञानात्मक है।

चेतना पूरे शरीर (नाड़ी तंत्र) में व्याप्त है। मन का मुख्य केन्द्र मस्तिष्क है। उसका संचालन भावधारा के द्वारा होता है। शुभ भाव की अवस्था में वह शुभ बन जाता है और अशुभ भाव की अवस्था में अशुभ बन जाता है। मोह का संयोग होने पर वह अशुभ बन जाता है और उसका विलय होने पर शुभ बन जाता है।

१५ नवम्बर
२००६

मन की एकाग्रता

मन को निश्चल करने के लिए ललाट का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका ज्ञान सहस्राधिक वर्षों पहले हो चुका था। अनेक ग्रंथों में ध्यान के लिए नेत्र, श्रवण और नासिका के साथ-साथ ललाट का भी उल्लेख किया गया है। आचार्य शुभचन्द्र ने इसके प्रयोग का उल्लेख किया है—इन्द्रियों को विषयों से हटाओ। समत्व का आलंबन लो। इस स्थिति में मन को ललाट पर स्थापित करो। इस प्रकार मन को निश्चल किया जा सकता है।

निरुद्ध्य करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च।
ललाटदेशसंलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः ।।

ज्ञानार्णव ३०.१२

१६ नवम्बर
२००६

मन का एक आलम्बन पर सन्निवेश

भंते! एक अग्र (आलंबन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

एकाग्र मन की स्थापना से जीव चित्त का निरोध करता है।

एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?
एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ॥

उत्तरज्झयणाणि २९.२६

१७ नवम्बर
२००६

मन की अवस्थाएं

चित्त के चार प्रकार हैं–

१. विक्षिप्त

२. यातायात

३. श्लिष्ट

४. सुलीन

विक्षिप्त चित्त चंचल होता है। वह इधर–उधर भटकता रहता है।

यातायात चित्त कुछ आनंद देने वाला होता है। कभी बाहर चला जाता है कभी भीतर स्थित होता है।

अभ्यास के प्रारंभिक क्षणों में साधक या योगी इन दोनों स्थितियों में रहता है।

ये दोनों प्रकार के चित्त विकल्प के साथ बाह्य पदार्थों का ग्रहण भी करते हैं।

इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च।
चेतश्चतुःप्रकारं तज्ज्ञचमत्कारकारि भवेत्॥
विक्षिप्तं चलमिष्टं यातायातं च किमपि सानन्दम्।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि, विकल्पविषयग्रहं तत् स्यात्॥

योगशास्त्र १२.२,३

१८ नवम्बर
२००६

निर्विचार दिशा

मन में जो विकल्प उठ रहे हैं, उनकी उपेक्षा करें। जो प्रश्न उठते हैं, उनके उत्तर मत दें। जैसे प्रश्न करने वाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है, वैसे ही मन भी उपेक्षा पाकर (प्रश्नों का उत्तर न पाकर) शांत हो जाता है।

मन को स्थिर करने का बलात् प्रयत्न न करें। अप्रयत्न से मन सहज ही शांत हो जाता है। शरीर को स्थिर और श्वास को मंद कीजिए। जैसे-जैसे शरीर स्थिर और श्वास मंद होगा, वैसे-वैसे मन अपने आप शांत हो जाएगा।

१६ नवम्बर
२००६

मनोनिरोध (१)

इन्द्रियों की प्रवृत्ति में मन का महत्त्वपूर्ण योग होता है। साधक इन्द्रिय-विजय का प्रयोग करता है। इस विषय में आचार्य शुभचन्द्र का मत यह है कि पहले मन के निरोध का अभ्यास करो। उसका निरोध किए बिना इन्द्रिय-विजय का प्रयत्न सार्थक नहीं होता।

मन की शुद्धि के द्वारा इन्द्रियों की आसक्ति का विलय होता है। जब मन राग और द्वेष में प्रवृत्त नहीं होता तब वह इन्द्रिय-विजय का हेतु बन जाता है।

मनोरोधे भवेदुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः।।
कलङ्कविलयः साक्षान्मनःशुद्ध्यैव देहिनाम्।
तस्मिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिरुदाहृता।।

ज्ञानार्णव २२.६,७

२० नवम्बर
२००६

मनोनिरोध (२)

मन का निरोध समग्र अभ्युदय का साधन है। योगीपुरुष मनोरोध के सहारे तत्त्व (अपने स्वरूप) के निश्चय तक पहुंच जाते हैं। जो साधक स्व और पर की एकता के स्थान पर भेद विज्ञान की साधना करते हैं वे सबसे पहले मन की चंचलता का निग्रह करते हैं।

एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयासाधकः।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम्।।
पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः।।

ज्ञानार्णव २२.१२,१३

२१ नवम्बर
२००६

मनोविजय का रहस्य

मन अपनी गति से चलता है। वह कभी प्रिय विषय को ग्रहण करता है कभी अप्रिय को। उसे बलात् रोकने का प्रयत्न मत करो।

उसे बलात् रोकने का प्रयत्न करने पर वह और अधिक विक्षिप्त हो जाता है। न रोकने पर अपने आप शांत हो जाता है।

जैसे उन्मत्त हाथी को रोकने पर वह और अधिक उन्मत्त हो जाता हैं, उसे न रोकने पर अपने इष्ट विषयों को प्राप्त कर स्वयं शांत हो जाता है। इसी प्रकार अवारित मन स्वयं शांत हो जाता है।

चेतोऽपि यत्र यत्र, प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम्।
अधिकीभवति हि वारितम्, अवारितं शान्तिमुपयाति।।
मत्तो हस्ती यत्नात् निवार्यमाणोऽधिकी भवति यद्वत्।
अनिवारितस्तु कामान्, लब्ध्वा शाम्यति मनस्तद्वत्।।

योगशास्त्र १२.२७,२८

२२ नवम्बर
२००६

मनोविजय का उपाय

जिस योग में औदासीन्य की गहराई, प्रयत्न की वर्जना और परम आनंद की भावना होती है, वह अपने मन का कहीं भी नियोजन नहीं करता।

आत्मा के द्वारा जब मन की उपेक्षा होती है तब वह इन्द्रियों को विषयों में प्रेरित नहीं करता। इन्द्रियां भी मन की प्रेरणा के बिना अपने विषय में प्रेरित नहीं होतीं।

आत्मा मन को प्रेरित नहीं करती और मन इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता। इस प्रकार दोनों ओर से आश्रयरहित बना हुआ मन अपने आप ही शांत हो जाता है।

औदासीन्यनिमग्नः प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा।
भावितपरमानन्दः क्वचिदति न मनो नियोजयति।।
करणानि नाधितिष्ठन्त्युपेक्षितं चित्तमात्मना जातु।
ग्राह्ये ततो निज-निजे, करणान्यपि न प्रवर्तन्ते।।
नात्मा प्रेरयति मनो, न मनः प्रेरयति यर्हि करणानि।
उभयभ्रष्टं तर्हि, स्वयमेव विनाशमाप्नोति।।

योगशास्त्र १२.३३-३५

२३ नवम्बर
२००६

उन्मनी भाव

एक योगी, जो रमणीय रूपों को देखता है, मधुर और मनोरम वाणी को सुन रहा है, सुगंधित पदार्थों को सूंघ रहा है, स्वादिष्ट पदार्थों का आस्वाद ले रहा है, कोमल पदार्थों का स्पर्श कर रहा है और चित्त की वृत्तियों को रोक नहीं रहा है, वह औदासीन्य (निर्ममत्व भाव) की अनुभूति करता है तो उसकी विषयों के प्रति होने वाली भ्रांति नष्ट हो जाती है।

वह योगी बाह्य और आंतरिक समस्त चिंता और चेष्टा से मुक्त होकर तन्मय भाव को प्राप्त कर उन्मनी भाव की ओर चला जाता है।

रूपं कान्तं पश्यन्नपि, शृण्वन्नपि गिरं कलमनोज्ञाम्।
जिघ्रन्नति च सुगन्धीन्यपि, भुञ्जानो रसान् स्वादून्।।
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम्।
परिकलितौदासीन्यः, प्रणष्टविषयभ्रमो नित्यम्।।
बहिरन्तश्च समन्तात् चिन्ता-चेष्टापरिच्युतो योगी।
तन्मयभावं प्राप्तः कलयति भृशमुन्मनीभावम्।।

योगशास्त्र १२.२३-२५

२४ नवम्बर
२००६

चित्त की अवस्थाएं

श्लिष्ट चित्त स्थिर और आनंदमय होता है। सुलीन चित्त अत्यन्त स्थिर और परमानन्दमय होता है।

ये दोनों चित्त अपने-अपने योग्य विषय को ग्रहण करते हैं, किन्तु ये बाह्य पदार्थ को ग्रहण नहीं करते।

सुलीन चित्त का अभ्यास परिपक्व होने पर निरालम्ब ध्यान की स्थिति प्राप्त होती है। उसमें चेतन समरस हो जाता है और परम आनंद की अनुभूति होती है।

श्लिष्टं स्थिरसानन्दं, सुलीनमितिनिश्चलं परानन्दम्।
तन्मात्रकविषयग्रहमुभयमपि बुधैस्तदाम्नातम्।।
एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेत् निरालम्बम्।
समरसभावं यातः परमानन्दं ततोऽनुभवेत्।।

योगशास्त्र १२.४,५

२५ नवम्बर
२००६

लय

प्रवृत्ति के लिए प्रयत्न आवश्यक है। लय (तन्मयता) का मार्ग इससे भिन्न है। जब तक प्रयत्न का अंश रहता है, संकल्प और कल्पना भी रहते हैं, तब तक लय सिद्ध नहीं होता।

परमात्म तत्त्व की अनुभूति के लिए आवश्यक है लय की साधना। उसके बिना परमात्म तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

यावत् प्रयत्नलेशो, यावत् संकल्पकल्पना काऽपि।
तावन्न लयस्यापि, प्राप्तिस्तत्त्वस्य तु का कथा?॥

योगशास्त्र १२.२०

२६ नवम्बर
२००६

प्रेक्षा

प्रेक्षा का शाब्दिक अर्थ है निरीक्षण का प्रकर्ष। इसका तात्पर्यार्थ है–राग–द्वेष और प्रिय–अप्रिय संवेदनों से मुक्त चित्त द्वारा देखना। यह केवल दर्शन और केवल ज्ञान की पद्धति है। केवल जानना और केवल देखना उसके साथ राग–द्वेष और प्रिय–अप्रिय को नहीं जोड़ना।

यह समता की आंख है। इसे तीसरा नेत्र भी कहा जा सकता है। प्रेक्षा के अभ्यास द्वारा इस नेत्र का उद्‌घाटन होता है।

२७ नवम्बर
२००६

प्रेक्षाध्यान का ध्येय

ध्येय—मैं चित्त-शुद्धि के लिए प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कर रहा हूं।

ध्येय का विस्तार सात सूत्रों में किया गया है—

१. मन को निर्मल करना।

२. सुप्त चेतना और शक्ति को जाग्रत करना।

३. वर्तमान में रहने का अभ्यास करना।

४. मस्तिष्क की तरंगों पर नियंत्रण करना।

५. स्वतः चालित नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण करना।

६. विपाक या अंतःस्रावी रसायनों पर नियंत्रण करना।

७. प्राणशक्ति का विकास, प्राण का ऐच्छिक प्रेषण करना।

२८ नवम्बर
२००६

प्रेक्षाध्यान और परिवर्तन

प्रेक्षाध्यान के द्वारा

- श्वास की गति बदलती है।
- प्रकंपन बदलते हैं।
- लेश्या बदलती हैं।
- इनके बदलने पर दृष्टि बदल जाती है।

श्वास और शारीरिक प्रकंपनों को संवादी और लयबद्ध करने की पद्धति हस्तगत होने पर एक आध्यात्मिक क्रान्ति घटित होती है। मानव-संबंध बदल जाते हैं।

२६ नवम्बर
२००६

प्रेक्षाध्यान : भावों का उद्‌गम स्रोत

अध्यवसाय के अनेक स्पन्दन अनेक दिशाओं में आगे बढ़ते हैं। वे चित्त पर उतरते हैं। उनकी एक धारा है—भाव की धारा। अध्यवसाय की धारा, जो रंग से प्रभावित होती है, रंग के स्पन्दनों के साथ जुड़कर भावों का निर्माण करती है वह है हमारा भावतंत्र या लेश्या तंत्र। जितने भी अच्छे या बुरे भाव हैं, वे सारे इनके द्वारा ही निर्मित होते हैं।

लेश्या से भावित अध्यवसाय आगे बढ़ते हैं तब ये प्रभावित करते हैं हमारे अन्तःस्रावी ग्रंथि तंत्र को। इन ग्रंथियों के स्राव (हार्मोन) ही हमारे कर्मों के विपाक या अनुभाग हैं। ये हार्मोन रक्त संचार तंत्र के द्वारा नाड़ी तंत्र और मस्तिष्क के सहयोग से हमारे अन्तर्भाव, चिंतन, वाणी, आचार और व्यवहार को संचालित और नियंत्रित करते हैं।

३० नवम्बर
२००६

अर्हम्

जिसके आदि में 'अकार' मध्य में 'रकार' और अंत में बिन्दु युक्त 'हकार' है, उस अर्हम् का कुंभक (श्वास संयम) की अवस्था में ध्यान किया जाए।

मन की एकाग्रता के साथ इस मंत्र का ध्यान करनेवाला व्यक्ति आनंद से परिपूर्ण हो जाता है।

'अकारादि-हकारान्तं, रेफमध्यं सबिन्दुकम्।
तदेव परमं तत्त्वं, यो जानाति स तत्त्ववित्तः।'
महातत्त्वमिदं योगी, यदैव ध्यायति स्थिरः।
तदैवानन्दसम्पद्भूः, मुक्तिश्रीरुपतिष्ठते।।

योगशास्त्र ८.२३

१ दिसम्बर
२००६

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें

चेतना के दो रूप हैं–

१. द्रष्टा चेतना

२. दृश्य चेतना–चेतना के पर्याय

दीनता और उद्दण्डता, उदासीनता और प्रसन्नता, आरोग्य और रोगावस्था, भूख और तृप्ति, चंचलता और एकाग्रता–शुद्ध चेतना के द्वारा चेतना के इन शुद्ध और अशुद्ध पर्यायों को देखने का अर्थ है आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना।

अत्तभावेण अत्ताणं, परिक्खेइ वियक्खणो।
दीणयं कुद्धयं चेव, हिट्ठयं च पसण्णयं।।
आरोगत्तं आउरत्तं, छायत्तं पीणितत्तणं।
विक्खित्तकं च एकत्तं दसधा संपधारए।।

अंगविज्जा

२ दिसम्बर
२००६

कायोत्सर्ग

ध्यान में प्रवेश करने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास आवश्यक है। पैर से सिर तक शरीर को छोटे-छोट हिस्सों में बांट कर प्रत्येक भाग पर चित्त को केन्द्रित कर, स्वतःसूचन के द्वारा शिथिलता का सुझाव देकर पूरे शरीर को शिथिल करना है। पूरे ध्यान काल तक शरीर को शिथिल रखना है, कायोत्सर्ग की मुद्रा को बनाए रखना है।

कायोत्सर्ग के अभ्यास से पूरा शरीर शिथिल हो जाता है और ध्यान में प्रवेश भी आसानी से होता है।

३ दिसम्बर
२००६

अंतर्यात्रा

रीढ़ की हड्डी के नीचे के छोर से (शक्ति केन्द्र) मस्तिष्क के ऊपरी छोर (ज्ञान केन्द्र) तक सुषुम्ना के भीतर चित्त को नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे घुमाया जाता है। पूरा ध्यान सुषुम्ना में केन्द्रित कर वहां होने वाले प्राण के प्रकंपनों का अनुभव किया जाता है।

४ दिसम्बर
२००६

दीर्घश्वास प्रेक्षा

श्वास वास्तविक है, इसलिए वह सत्य है। श्वास प्रेक्षा का अर्थ है सत्य को देखना, वर्तमान में जीने का अभ्यास करना।

श्वास वर्तमान की घटना है, अतीत या भविष्य की नहीं। श्वास को देखने का अर्थ है वर्तमान को देखना। उस समय न राग है न द्वेष। क्योंकि जब स्मृति या कल्पना नहीं है तो राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है।

श्वास प्रेक्षा के अभ्यास से साधक स्मृति और कल्पना से मुक्त तथा राग-द्वेष से मुक्त क्षण में जीता है। यह शुद्ध चेतना का क्षण है।

५ दिसम्बर
२००६

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा

जैसे दीर्घश्वास में श्वास की गति को परिवर्तित किया जाता है, वैसे ही समवृत्ति श्वास में उसकी दिशा को बदला जाता है। एक नथुने से श्वास भीतर लेकर दूसरे नथुने से बाहर निकाला जाता है तथा फिर उसी से भीतर लेकर पहले नथुने से बाहर निकाला जाता है। यह परिवर्तन संकल्प-शक्ति के द्वारा निष्पन्न हो सकता है। प्रयोग के दौरान निरंतर चित्त श्वास के साथ-साथ चलता है, उसकी प्रेक्षा करता है। यही समवृत्ति श्वास प्रेक्षा है।

६ दिसम्बर
२००६

शरीरप्रेक्षा (१)

शरीरप्रेक्षा की प्रक्रिया अंतर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को भीतर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस और कार्मण शरीर को देखने लग जाता है।

शरीरप्रेक्षा का दृढ़ अभ्यास होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है।

७ दिसम्बर
२००६

शरीरप्रेक्षा (२)

चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का एक आलंबन है—लोक-दर्शन।

लोक का अर्थ है—भोग्य वस्तु या विषय। शरीर भोग्य वस्तु है। उसके तीन भाग हैं—

१. अधोभाग—नाभि से नीचे,

२. ऊर्ध्वभाग—नाभि से ऊपर,

३. तिर्यग् भाग—नाभि-स्थान।

प्रकारान्तर से उसके तीन भाग ये हैं—

१. अधोभाग—आंख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुख के बीच का भाग।

२. ऊर्ध्वभाग—घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग।

३. तिर्यग्भाग—समतल भाग।

दीर्घदर्शी पुरुष लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है।

आयतचक्खू लोग-विपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढ भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ।

आयारो २.१२५

८ दिसम्बर

२००६

शरीरप्रेक्षा (३)

दीर्घदर्शी साधक देखता है—लोक का अधोभाग विषय-वासना में आसक्त होकर शोक आदि से पीड़ित है।

लोक का ऊर्ध्वभाग भी विषय-वासना में आसक्त होकर शोक से पीड़ित है।

लोक का मध्यभाग भी विषय-वासना में आसक्त होकर शोक आदि से पीड़ित है।

९ दिसम्बर
२००६

शरीरप्रेक्षा (४)

दीर्घदर्शी साधक मनुष्य के उन भावों को जानता है, जो अधोगति के हेतु बनते हैं; उन भावों को जानता है, जो ऊर्ध्वगति के हेतु बनते हैं; उन भावों को जानता है, जो तिर्यग् (मध्य) गति के हेतु बनते हैं।

१० दिसम्बर
२००६

शरीरप्रेक्षा (५)

आंखों को विस्फारित और अनिमेष कर उन्हें किसी एक बिन्दु पर स्थिर करना त्राटक है। इसकी साधना सिद्ध होने पर ऊर्ध्व, मध्य और अधः—ये तीनों लोक जाने जा सकते हैं। इन तीनों लोकों को जानने के लिए इन तीनों पर ही त्राटक किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में ध्यान लगाकर समाधिस्थ हो जाते थे।

इससे ध्यान की तीन पद्धतियां फलित होती हैं—

१. आकाश–दर्शन

२. तिर्यग् भित्ति–दर्शन

३. भूगर्भ–दर्शन।

आकाश दर्शन के समय भगवान ऊर्ध्वलोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। तिर्यग् भित्ति–दर्शन के समय वे मध्यलोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। भूगर्भ–दर्शन के समय वे अधोलोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। ध्यान–विचार में लोक–चिंतन को आलंबन बताया गया है। ऊर्ध्वलोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन उत्साह का आलंबन है। अधोलोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन पराक्रम का आलंबन है। तिर्यक्लोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन चेष्टा का आलंबन है। लोक–भावना में भी तीनों लोकों का चिंतन किया जाता है।

११ दिसम्बर
२००६

शरीरप्रेक्षा (६)

चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का एक आलंबन है—संधि-दर्शन—शरीर की संधियों (जोड़ों) का स्वरूप-दर्शन कर उसके यथार्थ रूप को समझना; शरीर अस्थियों का ढांचा-मात्र है; उसे देखकर उससे विरक्त होना। शरीर में एक सौ अस्सी संधियां मानी जाती हैं। चौदह महासंधियां हैं—तीन दाएं हाथ की संधियां—कंधा, कुहनी, पहुंचा। तीन बाएं हाथ की संधियां। तीन दाएं पैर की संधियां—कमर, घुटना, गुल्फ। तीन बाएं पैर की संधियां। एक गर्दन की संधि। एक कमर की संधि।

पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की संधि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो सकता है।

संधिं विदित्ता इह मच्चिएहिं।

आयारो २.१२७

१२ दिसम्बर
२००६

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा (१)

शरीर-दर्शन की प्रक्रिया अंतर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अंतर् की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस् और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन करने की ओर आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता है।

१३ दिसम्बर
२००६

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा (२)

महावीर की साधना का मौलिक स्वरूप है—अप्रमाद। अप्रमत्त रहने के लिए जो उपाय बतलाए गए हैं, उनमें शरीर की क्रिया और संवेदना—ये दो मुख्य उपाय हैं। जो साधक वर्तमान क्षण में शरीर में घटित होने वाली सुख-दुःख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

'स्थूल शरीर का यह वर्तमान क्षण है'—इस प्रकार जो वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह सदा अप्रमत्त होता है।

जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति मन्नेसी।

आयारो ५.२१

१४ दिसम्बर
२००६

चैतन्य केन्द्र (१)

जो दृश्य है वह स्थूल शरीर है। इसके भीतर तैजस और कर्म–ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। वह चैतन्यमय है। जैसे सूर्य और हमारे मध्य बादल आ जाते हैं, वैसे ही आत्मा के चैतन्य और बाह्य जगत् के मध्य कर्मशरीर के बादल छाए हुए हैं। इसीलिए चैतन्य-सूर्य का पूर्ण प्रकाश बाह्य जगत् पर नहीं पड़ता। उसकी कुछ रश्मियां बाह्य जगत् को प्रकाशित करती हैं।

कर्म शरीरगत ज्ञानावरण की क्षमता जितनी विलीन होती है उतने ही स्थूल शरीर प्रज्ञान की अभिव्यक्ति के केन्द्र निर्मित हो जाते हैं। ये ही हमारे चैतन्य केन्द्र हैं।

१५ दिसम्बर
२००६

चैतन्य केन्द्र (२)

हमारी चेतना के असंख्य प्रदेश हैं। वे सब चैतन्य केन्द्र हैं, किन्तु कुछ स्थान ऐसे हैं, जहां चैतन्य दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक सघन होता है।

विज्ञान की भाषा में हमारा पूरा शरीर विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र (Electromagnetic Field) है। कुछ विशेष स्थानों में विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता अन्य स्थानों की तुलना में अधिक होती है।

आयुर्वेद की भाषा में चैतन्य केन्द्रों को मर्मस्थान कहते हैं।

प्रेक्षाध्यान के चैतन्य केन्द्र और आयुर्वेद के मर्मस्थानों में स्थान की दृष्टि से और महत्त्व की दृष्टि से अद्भुत समानता है।

१६ दिसम्बर
२००६

चैतन्य केन्द्र (३)

हठयोग और तंत्रशास्त्र में चैतन्य केन्द्रों को चक्र कहा जाता है। जैन योग में चैतन्य केन्द्रों के अनेक आकारों का उल्लेख मिलता है, जैसे—शंख, कमल, स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त, ध्वज, कलश, हल आदि। ये नाना आकार वाले चैतन्य केन्द्र इंद्रियातीत ज्ञान के माध्यम बनते हैं। इनके माध्यम से चैतन्य का प्रकाश बाहर फैलता है। अतीन्द्रियज्ञान का एक प्रकार है अवधिज्ञान। जैसे जालीदार ढक्कन में रखे हुए दीप का प्रकाश जाली में छनकर बाहर आता है, वैसे ही अवधिज्ञान की प्रकाश-रश्मियां चैतन्य केन्द्रों के माध्यम से बाहर आती है।

१७ दिसम्बर
२००६

चैतन्य केन्द्र : धारणा के स्थान

जैसे हाथी को आलान पर बांधा जाता है, गाय को खूंटे पर, वैसे ही चंचल मन को बांधने के लिए जरूरी है कोई आलान अथवा कोई खूंटा। मनुष्य के शरीर में आलान है और खूंटे भी हैं। कुछ आलान बंधनों के नाम निर्दिष्ट किए गए हैं–

१. नाभि

२. हृदय

३. नासाग्र

४. ललाट

५. भृकुटि

६. तालु

७. नेत्र

८. मुख

९. कान

१०. मस्तक

योग की भाषा में ये सब धारणा के स्थान हैं।

नाभि–हृदय–नासाग्रभाल–भ्रू–तालु–दृष्टयः।
मुखं कर्णौ शिरश्चेति, ध्यान–स्थानान्यकीर्तयन्॥

योगशास्त्र ६.७

१८ दिसम्बर
२००६

चैतन्य केन्द्र और अंतःस्रावी ग्रंथि तंत्र

वृत्तियों के आवेगात्मक बलों के उद्दीपक या शमन करने की मूलभूत चाबी है अंतःस्रावी ग्रंथियां। ये चैतन्य केन्द्रों के संवादी केन्द्र हैं।

सारी ग्रंथियां परस्पर रासायनिक प्रक्रियाओं के द्वारा सम्बद्ध हैं। वे मस्तिष्क और नाड़ी-तंत्र के साथ भी पूर्णरूप से जुड़ी हुई हैं। नाड़ी-तंत्र की प्रवृत्तियां इनसे प्रभावित होती हैं और उन्हें प्रभावित करती हैं।

अंतःस्रावी तंत्र का असंतुलन मस्तिष्क को प्रभावित करता है और चिंतनधारा को दूषित करता है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अभ्यास अंतःस्रावी तंत्र के संतुलन को पुनःस्थापित करने की क्षमता प्रदान करता है।

१६ दिसम्बर
२००६

परमदर्शी

जो लोक में परम को देखता है वह विविक्त जीवन जीता है। वह उपशांत, सम्यक् प्रवृत्त, ज्ञान आदि से सहित और सदा अप्रमत्त होकर जीवन के अंतिम क्षण तक जागरूक रहता है।

लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते,
समिते सहिते सया जए कालकंखी परिव्वए।

आयारो ३.३८

२० दिसम्बर
२००६

निष्कर्मदर्शी

आत्म दर्शन में बाधक तत्त्व दो हैं—राग और द्वेष। ये आत्मा पर कर्म का सघन आवरण डालते रहते हैं। इसलिए उसका दर्शन नहीं होता। राग-द्वेष के छिन्न हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो जाता है। निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ किए जा सकते हैं—१. आत्मदर्शी, २. मोक्षदर्शी, ३. सर्वदर्शी, ४. अक्रियादर्शी।

महावीर की साधना का मूल आधार है—अक्रिया। सत् वही होता है, जिसमें क्रिया होती है। आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है—चैतन्य का व्यापार। उससे भिन्न क्रिया होती है, वह स्वाभाविक नहीं होती। अस्वाभाविक क्रिया का निरोध ही आत्मा की स्वाभाविक क्रिया के परिवर्तन का रहस्य है। स्वाभाविक क्रिया के क्षण में राग-द्वेष की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है।

संयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर पुरुष आत्मदर्शी हो जाता है।

पलिच्छिंदिया णं णिक्कम्मदंसी।

आयारो ३.३५

२१ दिसम्बर

२००६

विचार प्रेक्षा

१. अपने ज्ञाता-द्रष्टारूप का अनुभव करें, जो स्मृति, कल्पना और विचार से भिन्न है।

२. चित्त को द्रष्टा के रूप में सिर पर केन्द्रित करें। विचार-तरंग उठे, उसे देखते जाएं, विचारों को रोकने का प्रयत्न न करें।

३. विचारों को देखें, विचार के उद्गम-स्रोत को देखें।

४. विचारों को पढ़ें, विचारों के साथ बहें नहीं, उन्हें देखें।

५. विचार-प्रवाह शांत हो तब शांत रहें।

२२ दिसम्बर
२००६

अनिमेष प्रेक्षा

अनिमेष प्रेक्षा का अभ्यास नासाग्र और भृकुटी पर किया जा सकता है। नासाग्र पर किया जाने वाला अभ्यास बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। अभ्यासकाल में पूरी एकाग्रता रहे, मस्तिष्क में कोई विचार न घूमे, ध्यान इधर-उधर न जाए, इतनी तन्मयता से देखें कि सारी शक्ति देखने में ही लग जाए। देखने वाला स्वयं दृष्टि ही बन जाए।

अनिमेष प्रेक्षा के अभ्यास से मस्तिष्क के विशेष कोश जाग्रत होते हैं, आंतरिक ज्ञान प्रस्फुटित होता है। किसी भी वस्तु की गहराई में जाकर उसके आंतरिक स्वरूप को समझने की क्षमता जाग्रत होती है।

२३ दिसम्बर
२००६

प्राण संचार

कायोत्सर्ग की मुद्रा में लेट जाएं। दोनों पैरों को सटा दें, हाथों को फैलाएं। अंगुलियों को ऊपर की ओर रखें। शरीर को शिथिल करें। दीर्घ श्वास लें। सिर पर ध्यान केन्द्रित कर प्राण के आकर्षण का संकल्प करें। फिर पैरों पर ध्यान कर प्राण के आकर्षण का संकल्प करें। तीसरी बार पूरे शरीर का ध्यान कर शरीर के रोम-रोम से प्राण के आकर्षण का संकल्प करें। इसकी तीन आवृत्तियां करें। प्राणशक्ति का उपयोग चित्त की निर्मलता के लिए करूंगा—इस संकल्प के साथ प्रयोग संपन्न करें।

यह प्रयोग बैठकर अथवा खड़े होकर किया जा सकता है।

२४ दिसम्बर
२००६

प्राण-केन्द्र प्रेक्षा

दस प्राणों के केन्द्र हमारे मस्तिष्क में विद्यमान हैं–

१. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण–ज्ञान केन्द्र और शांति केन्द्र के मध्य।

२. रसनेन्द्रिय प्राण–बृहद् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क के संधि स्थल से थोड़ा-सा ऊपर।

३. घ्राणेन्द्रिय प्राण–चाक्षुष केन्द्र की सीध में दाएं भाग में।

४. चक्षुरिन्द्रिय प्राण–ज्ञान केन्द्र के पीछे बृहद् मस्तिष्क के अंत में।

५. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण–कनपटी की सीध में।

६. मन प्राण–ज्ञान केन्द्र।

७. भाषा प्राण–रसना केन्द्र के नीचे।

८. शरीर प्राण–मस्तिष्क का बिल्कुल सामने का भाग (फ्रन्टल लॉब)।

९. श्वासोच्छ्वास प्राण–मेडूला ओबलोंगाटा (लघु मस्तिष्क के नीचे और सुषुम्ना शीर्ष के ऊपर)।

१०. आयुष्य प्राण–हाइपोथेलेमस (शांति केन्द्र) की सीध में, भीतर गहरे में।

इन प्राण-केन्द्रों की क्रमशः प्रेक्षा करें।

२५ दिसम्बर
२००६

महावीर के ध्यानासन

भगवान महावीर ध्यान के लिए प्रायः एकान्त स्थान का चुनाव करते थे। वे खड़े और बैठे—दोनों अवस्थाओं में ध्यान करते थे। उनके ध्यानकाल में बैठने के मुख्य आसन थे—पद्मासन, पर्यंकासन, वीरासन, गोदोहिका और उत्कुटुकासन।

भगवान की ध्यान मुद्रा अनेक ध्यानाभ्यासी व्यक्तियों को आकृष्ट करती रही है। आचार्य हेमचन्द्र ने उनकी ध्यान मुद्रा के बारे में लिखा है—'भगवन्! तुम्हारी ध्यान मुद्रा—पर्यंकशायी और शिथिलीकृत शरीर तथा नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर आंखों में साधना का जो रहस्य है, उसकी प्रतिलिपि सबके लिए अनुकरणीय है।'

वपुश्च पर्यङ्कशयं श्लथं च, दृशौ च नासा नियते स्थिरे च।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैः, जिनेन्द्र! मुद्रापि तवान्यदास्ताम्॥

अयोग व्यवच्छेदिका २०

२६ दिसम्बर
२००६

ध्यान के तीन प्रयोग

भगवान महावीर ध्यान के समय ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्–तीनों को ध्येय बनाते थे।

ऊर्ध्व लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे ऊर्ध्व-दिशापाती ध्यान करते थे।

अधोलोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे अधो-दिशापाती ध्यान करते थे।

तिर्यक्-लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे तिर्यक् दिशापाती ध्यान करते थे।

अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिन्ने।।

आयारो ४.१४

२७ दिसम्बर
२००६

महावीर के ध्यान के प्रयोग

महावीर लम्बे समय तक कायिक-ध्यान करते। उससे श्रान्त होने पर वाचिक और मानसिक ध्यान करते। कभी द्रव्य का ध्यान करते, फिर उसे छोड़ पर्याय के ध्यान में लग जाते। कभी एक शब्द का ध्यान करते, फिर उसे छोड़ दूसरे शब्द के ध्यान में प्रवृत्त हो जाते।

भगवान परिवर्तनयुक्त ध्येय वाले ध्यान का अभ्यास कर अपरिवर्तित ध्येय वाले ध्यान की कक्षा में आरूढ़ हो जाते थे।

२८ दिसम्बर
२००६

ध्येय का परिवर्तन

भगवान महावीर ध्यान के समय ध्येय का परिवर्तन भी करते रहते थे। उनके मुख्य ध्येय थे–

१. ऊर्ध्वगामी, अधोगामी और तिर्यग्गामी कर्म।

२. बंध, बंधन–हेतु और बंधन–परिणाम।

३. मोक्ष, मोक्ष–हेतु और मोक्ष–सुख।

४. सिर, नाभि और पादांगुष्ठ।

५. द्रव्य, गुण और पर्याय।

६. नित्य और अनित्य।

७. स्थूल–संपूर्ण जगत्।

८. सूक्ष्म–परमाणु।

९. प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का निरीक्षण।

२९ दिसम्बर
२००६

भावना का अभ्यास

भगवान ध्यान की मध्यावधि में भावना का अभ्यास करते थे। उनके भाव्य विषय थे–

१. एकत्व अनुप्रेक्षा–जितने संपर्क हैं, वे सब सांयोगिक हैं। अंतिम सत्य यह है कि आत्मा अकेला है।

२. अनित्य अनुप्रेक्षा–संयोग का अंत वियोग में होता है। अतः सब संयोग अनित्य हैं।

३. अशरण अनुप्रेक्षा–अंतिम सचाई यह है कि व्यक्ति के अपने ही संस्कार उसे सुखी और दुःखी बनाते हैं। बुरे संस्कारों के प्रकट होने पर कोई भी उसे दुःखानुभूति से नहीं बचा सकता।

३० दिसम्बर
२००६

एकरात्रिकी प्रतिमा

पेढाल नाम का गांव और पोलाश नाम का चैत्य। वहां भगवान महावीर ने 'एकरात्रिकी प्रतिमा' की साधना की। प्रारंभ में तीन दिन उपवास किया। तीसरी रात को शरीर का व्युत्सर्ग कर खड़े हो गए। दोनों पैर सटे हुए थे और हाथ पैरों से सटकर नीचे की ओर झुके हुए थे। दृष्टि का उन्मेष-निमेष बंद था। उसे किसी एक पुद्गल (बिन्दु) पर स्थिर और सब इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में स्थापित कर ध्यान में लीन हो गए।

यह भय और देहाध्यास के विसर्जन की प्रकृष्ट साधना है।

३१ दिसम्बर

२००६

सर्वतोभद्र प्रतिमा

भगवान महावीर सानुलट्ठिय गांव में विहार कर रहे थे। वहां भगवान ने भद्र प्रतिमा की साधना प्रारंभ की। वे पूर्व दिशा की ओर मुंह कर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हो गए। चार प्रहर तक ध्यान की अवस्था में खड़े रहे। इसी प्रकार उन्होंने उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशा की ओर अभिमुख होकर चार-चार प्रहर तक ध्यान किया।

इसके बाद भगवान ने महाभद्र प्रतिमा की साधना प्रारंभ की। उसमें उन्होंने चारों दिशाओं में एक-एक दिन-रात तक ध्यान किया। तत्पश्चात् सर्वतोभद्र प्रतिमा की साधना में लीन हो गए। चारों दिशाओं, चारों विदिशाओं, ऊर्ध्व और अधः–इन दसों दिशाओं में एक-एक रात तक ध्यान करते रहे।

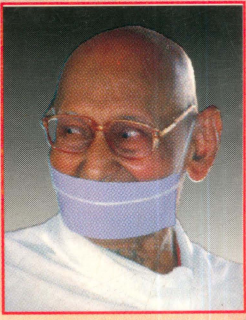

प्राणायाम

जैन योग में प्राणायाम का महत्त्व सापेक्ष है। प्राचीन जैन योग में संभवतः रेचक, पूरक और कुंभक की व्यवस्था नहीं है। इसका आधार महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में खोजा जा सकता है। योगदर्शन में प्राणायाम की परिभाषा है प्राण का प्रच्छर्दन–रेचन और विधारण–बाह्य कुंभक।

उत्तरकालीन जैन योग में रेचक, पूरक और कुंभक का उल्लेख मिलता है।

प्राणायामो गतिच्छेदः, श्वासप्रश्वासयोर्मतः।
रेचकः पूरकश्चैव, कुम्भकश्चेति स त्रिधा।।

योगशास्त्र ५.४